बन साजसमाजु सब बनिता बंधु समेत। बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥' श्रीरामचरितमानसके अनुसार इसके बाद फिर घर जाना नहीं हुआ। अतएव निश्चय है कि मुनिवेषके साथ क्षत्रियधर्मके अनुकूल धनुष-बाण भी उन्होंने कैकेयीजीके सामने ही धारण किया और कैकेयीजीने उसपर कोई एतराज नहीं किया। एतराज करती ही क्यों? *'बेष'* शब्दमें केवल वस्त्राभूषण शृङ्गारका ही भाव रहता है। देखिये न परशुरामजीके धनुष, बाण, तरकश, परशु धारण करनेपर भी उनके वेषको *'सांत बेष'* ही कविने कहा है। जिससे स्पष्ट है कि कैकेयीजीका *'तापस बेष बिसेषि उदासी'* एवं *'मुनिबेष'* से यह तात्पर्य न था कि वे अपने आयुध साथ न लें। और वाल्मीकीयमें तो धनुष, बाण, खड्ग आदि सभीका, उसी समय उनके सामने ही लेकर जाना लिखा है। यदि कैकेयीका मत (शङ्का करनेवालेके अनुसार) वैसा होता तो श्रीरघुनाथजी श्रीसीताजीसे (वाल्मीकीय वनकाण्डमें) ऐसा न कहते कि हम मुनियोंको रक्षाका वचन दे चुके हैं, हम अवश्य राक्षसोंका वध करेंगे। और यह भी स्मरण रहे कि श्रीरामजी सत्यव्रत हैं। जब उन्होंने कैकेयीजीसे यह कह दिया कि हम पिताके वचन और आपकी आज्ञाका पालन करेंगे, तब वे आज्ञाके प्रतिकूल कोई भी बात कब करते? कैकेयीजीका जो मतलब (आशय) था वह या तो कैकेयी ही समझती थीं या पूर्णरीत्या श्रीरामजी ही। हो सकता है कि इस प्रकारकी शङ्काके विचारसे ही गोस्वामीजीने आगेका दोहा लिखा हो।

दोहा—अति बिचित्र रघुपति चरित जानहि परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदय धरहिं कछु आन॥४९॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका चरित्र अत्यन्त विचित्र है, परम सुजान (ही इसे) जानता है। जो मन्दबुद्धि और विशेषमोहके वश हैं*, वे हृदयमें कुछ और ही धारणा कर लेते हैं। अर्थात् कुछ-का-कुछ समझ बैठते हैं॥ ४९॥

*** 'अति बिचित्र रघुपति चरित जानहि परम सुजान' ***

१ पं० रामकुमारजी—*'अति बिचित्र'* और *'परम सुजान'* पदोंसे जनाते हैं कि रघुपतिके चरित्र तीन प्रकारके होते हैं—*'चित्र'*, *'बिचित्र'* और *'अति बिचित्र'*। और उनके ज्ञाता (जानकार) भी क्रमशः तीन प्रकारके होते हैं—*'जान'*, *'सुजान'* और *'परम सुजान'*।

चरित्र	चरित्रोंके ज्ञाता
सत्त्वगुणी चरित्र *'चित्र'* हैं।	१ कर्मकाण्डी मुनि इनके ज्ञाता *'जान'* हैं।
रजोगुणी चरित्र *'बिचित्र'* हैं।	२ ज्ञानी सनकादि इनके ज्ञाता *'सुजान'* हैं।
तमोगुणी चरित्र (विलाप आदि) *'अति बिचित्र'* हैं।	३ उपासक भुशुण्डि, शिव इनके ज्ञाता *'परम सुजान'* हैं। इन्हें भ्रम नहीं होता।

प्रमाण, यथा—'**वदन्ति मुनयः केचिज्जानन्ति सनकादयः। मद्भक्ता निर्मलात्मानः सम्यग् जानन्ति नित्यदा॥**' (इति अध्यात्मरा०) पुनः यथा—*'जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥'*

२ कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि अन्तर्यामीका चरित्र *'चित्र'* है, विराट्का *'बिचित्र'* है और श्रीरघुपतिचरित *'अति बिचित्र'* है। इस प्रकार इनके चरित्रोंको जाननेवाले क्रमसे *'जान'*, *'सुजान'* और *'परम सुजान'* हैं।

३ वे० भू० जीका मत है कि भगवान्के अन्य अवतारोंके चरित्र *'बिचित्र'* हैं, उन्हें वेद शास्त्रादि तथा अन्य साधनोंद्वारा भी लोग जान सकते हैं। अतः उनके जाननेवाले *'सुजान'* हैं। और साक्षात् ब्रह्म रघुपतिके चरित *'अति बिचित्र'* हैं। वे उन्हीं चरितनायककी कृपासे, उन्हींके जनानेसे जाने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। यथा—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'* अतएव इनके जाननेवाले *'परम सुजान'* कहे जाते हैं।

* अर्थान्तर—जो मतिमन्द होते हैं वे विशेष मोहके वश होते हैं—(प० प० प्र०)।

४ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'जहाँ अनेक रंगोंकी संकीर्णता (अर्थात् बहुत-से रंगोंका सम्मिश्रण वा मेल) होती है, उसे विचित्र कहते हैं।' मुं० रोशनलालजी भी *'बिचित्र'* का भाव 'अनेक रंगोंके सहित' ऐसा लिखते हैं। दोनोंके मतोंमें रंगके विषयमें कहीं-कहीं भेद है। बाकी जान पड़ता है कि पाँड़ेजीकी टीकासे ही बैजनाथजीने यह भाव लिया है।

चरित	रस	रंग पाँ। बै०	चरित	रस	रंग पाँ। बै०
१ तपस्वीवेष	शान्त	श्वेत	५ प्रियावियोग	करुण	पीत। कपोत
२ धनुर्धारीवेष	वीर	लाल। पीत	☞ इसे वियोग शृङ्गार कहना उपयुक्त होगा।		
३ प्रियासंयुक्त	संयोगशृङ्गार	श्याम	६ विरह-विकलता	बीभत्स	खाकी। नील
४ मारीचवध	रौद्र	काला। लाल	☞ इसी तरह अनेक रंगमय चरित्र होना विचित्रता है। (बै०)		

टिप्पणी—१ *'अति बिचित्र'*...... इति। वास्तवमें *'बिचित्र'* का अर्थ है—असाधारण, विलक्षण। अर्थात् सर्वसाधारणको अगम्य-अज्ञेय। जीवोंका चरित्र सर्वसाधारणको अगम्य है, पर ब्रह्मादि देवताओं तथा योगियोंको वह गम्य है। इसीलिये उसे *'बिचित्र'* कहा जा सकता है। और ईश्वरका चरित्र सामान्य जीवोंकी कौन कहे, ब्रह्मादि देवता तथा योगियोंको भी अगम्य है। उदाहरणमें गोवत्सहरणप्रसङ्गमें ब्रह्माजी, नागपाशमें गरुड़जी और मोहिनीस्वरूपमें शिवजीके मोहका दृष्टान्त दिया जा सकता है। अतः यह *'अति बिचित्र'* है। यथा— *'अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोग।'* *'परम सुजान'* तो एक परमेश्वर ही है, वही अपने चरित्रको जानता है, दूसरा नहीं। वह ही जिसको जना दे वह भी जान जाता है और उतने विषयके लिये उसको *'परम सुजान'* कह सकते हैं, सर्वथा *'परम सुजान'* तो परमेश्वर ही है। नोट ३ भी देखिये।

नोट—१ संवत् १६६१ में *'जानहि'* पाठ है। एक वचनात्मक क्रियाका भाव यह है, इसको यथार्थ जाननेवाले बिरले कोई एक-दो अर्थात् बहुत थोड़े होते हैं और वे वही होते हैं जिनपर श्रीरघुपतिकृपा हो जाती है।—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'*

टिप्पणी—२ *'जे मतिमंद बिमोह बस'* इति। यहाँ न जाननेवालोंकी भी तीन कोटियाँ वा संज्ञाएँ जनायीं—एक मतिमन्द, दूसरे, मोहवश और 'तीसरे, विमोहवश। सत्त्वगुणके चरित समझनेमें मतिमन्द हैं, रजोगुणकी लीला समझनेमें मोहवश हैं और तमोगुणी लीलाके समझनेमें 'विमोहवश' हैं।

टिप्पणी—३ *'हृदय धरहिं कछु आन'* इति। अर्थात् श्रीरामजीको नर मानते हैं। *'जे मतिमंद'*......*'आन'* ये वचन याज्ञवल्क्यजीके हैं। मतिमन्द हृदयमें क्या धारणा रखते हैं, यह याज्ञवल्क्यजी अपने मुँहसे भी नहीं कहना चाहते अथवा न कह सके। इसीसे उन्होंने *'धरहिं कछु आन'* इतनामात्र कहा। आगे चलकर शिवजीके वचनोंमें इसको कहा है; यथा—*'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाषंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥'* (बा० ११४)—इस तरह *'धरहिं कछु आन'* का भावार्थ यह हुआ कि उनकी यह धारणा रहती है कि श्रुतिप्रतिपाद्य, **'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्'** 'ये राम दाशरथि रामसे भिन्न कोई और हैं।'

नोट—२ करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'आसुरी बुद्धिवाले यह समझते हैं कि ये परमात्मा होते तो इस तरह वियोगमें व्याकुल होकर क्यों जानकीजीको खोजते-फिरते।' यथा—*'खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥'* (बा० ५१) बैजनाथजी लिखते हैं कि मतिमन्दकी धारणा यह होती है कि 'दशरथनन्दन रघुनाथजी कामासक्त थे, इसीसे विलख-विलख रो रहे हैं। वे प्रभुमें दुःख मानते हैं; यथा—*'निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभुपर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥'* इत्यादि। विशेष *'कामिन्ह कै दीनता देखाई।'* (अ० ३९।२) में देखिये।

नोट—३ *'अति बिचित्र'* और *'परम सुजान'* शब्दोंमें ध्वनि यह है कि इन चरित्रोंको देखकर जब

जगज्जननी भवानी सतीको ही संशय, मोह और भ्रम हो गया तब इनके *'अति बिचित्र'* होनेमें सन्देह ही क्या? और तब भला भगवान् शङ्कर-सरीखे परम सुजान परम भागवतोंको छोड़कर इन चरित्रोंको यथार्थतः और कौन जान और समझ सकता है, *'परम सुजान'* ही इनके अधिकारी हैं। यथा—*'जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥ तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥ चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ नर तन धरेहु संत सुरकाजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥'* (अ० १२७—१—७) *'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धर्म रति॥'* (अ० मं०) *'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥' 'असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जनसुखकारी॥'* (७।७३) श्रीवाल्मीकिजी, शिवजी और भुशुण्डिजीके उपर्युक्त वाक्योंसे स्पष्ट है कि *'परम सुजान'* से दैवी सम्पत्ति वा दैवी बुद्धिवाले पण्डित, मुनि आदि जो श्रीरामजीके भक्तजन हैं, वे ही अभिप्रेत हैं। और *'जे मतिमंद बिमोह बस'*......' के *'मतिमंद'* शब्दसे आसुरी सम्पदा वा आसुरी बुद्धिवाले, विमूढ़ जड मनुष्य जो हरिपदविमुख हैं, जिनकी धर्ममें प्रीति नहीं है—उन्हींसे तात्पर्य है।

'परम सुजान क्या समझते हैं?'—यह भी इन उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट कहा हुआ है। वे यह जानते हैं कि आपकी देह चिदानन्दमय है, अर्थात् उसमें देह-देही-विभाग नहीं है, आपकी देह पञ्चतत्त्वात्मक नहीं है, वह तो समस्त विकाररहित है। आपने नृपशरीर धारण किया है, अतएव प्राकृत नृपके-से चरित भी करते हैं।

एक ही चरित एकमें मोह उत्पन्न कर देता है और दूसरेको सुख देता है, इसमें आश्चर्य ही क्या? देखिये 'एक ही पवनके वेगके स्पर्शसे जलमें शीतलता और अग्निमें उष्णता होती है, वैसे ही श्रीरामचरित भगवद्भक्तोंमें भक्ति, विश्वास, वैराग्य आदि और भगवद्विमुखोंको मोह और अनिश्चयके कारण होते हैं।' (शुकदेवलालजी)

(श्रीकरुणासिन्धुजी अपनी आनन्दलहरीटीकामें लिखते हैं कि *'परम सुजान'* यह समझते हैं कि) 'इन अपने चरितोंसे प्रभु हमें यह शिक्षा दे रहे हैं कि जैसे हम श्रीजानकीजीसे मिलनेके लिये उत्सुक और व्याकुल हैं, इसी तरह हमारे भक्त हमारे मिलनेके लिये उत्कण्ठित और व्याकुल हों।'

श्रीरूपकलाजीका मत है कि यहाँ प्रभुने अपने भक्तोंको उपदेशके ही लिये कामियोंका स्वरूप दिखा दिया है। शिवजीका भी यही मत है, यथा—*'गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥ कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई॥'* (अ० ३९) अर्थात् धीर भक्तोंको उपदेश देते हैं कि देखो विषयासक्तिमें, कामासक्तिमें इसी तरह अमित संकट उठाने पड़ते हैं, रो-रो प्राण देना पड़ जाता है, अतएव कामसे बचो। यही बात भगवान्‌ने देवर्षि नारदसे कही है, यथा—*'अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि। ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥'* (अ० ४४)

प० प० प्र०—चित्र, विचित्र और अति विचित्र यह क्रम है। चित्र शब्दके तीन अर्थ ये हैं—अद्भुत, आश्चर्यकारक, अनेक परस्परविरुद्ध लक्षणोंसे युक्त। तीनों अर्थ यहाँ ग्राह्य हैं। रघुपतिचरित *'सुर हित दनुज बिमोहन सीला'* है, अतः अति विचित्र है। *'बिस्व सुखद खल कमल तुसारू'* होनेसे भी अति विचित्र है। ऐसा विचित्र है कि श्रीसतीजी, गरुड़जी तथा भुशुण्डिजीके समान रामभक्तोंको भी मोह-विमोह होता है। श्रीरघुपतिगुरु श्रीवसिष्ठजी भी कहते हैं कि *'देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा॥'* श्रीरघुपति *'बिधि हरि संभु नचावनिहारे'* हैं तब दूसरा कौन है जो रघुपतिचरितका रहस्य सम्पूर्ण रीतिसे जान सकेगा। अतएव 'जो परम सुजान है वह जानता है' ऐसा अर्थ लेनेसे वसिष्ठजी भी मतिमन्द आदि सिद्ध हो जायँगे। *'राम रहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।'* ऐसा आशीर्वाद होनेपर भी भुशुण्डिजीको रामचरित्र देखकर मोह हुआ है तब दूसरोंकी बात ही क्या? अतः *'ग्यानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥'* (१।१२४) यह

ध्यानमें रखकर और *'अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु।'* ऐसा समझकर जो सन्देहातीत रहेगा वही परम सुजान कहनेयोग्य है।

नोट—४ उत्तरार्द्धमें *'जे'* बहुवचन पद देकर जनाया कि ऐसोंकी संख्या अधिक है। *'धरहिं'* से जनाया कि उसे यत्नपूर्वक रखते हैं, हृदयसे उसे निकाल डालना नहीं चाहते, ऐसा गाड़कर रखते हैं कि उसका निकालना भी कठिन हो जाता है।

नोट—५ यहाँ 'प्रथम निदर्शना' अलङ्कार है। जहाँ दो वाक्योंके अर्थमें विभिन्नता होते हुए समताभावसूचक ऐसा आरोपण किया जाय कि दोनों एक-से जान पड़ें, वहाँ 'निदर्शनालङ्कार' होता है। यथा—*'जो सो जे ते पदन करि असम वाक्य सम कीन्ह। ता कहँ प्रथम निदर्शना बरनैं कबि परबीन॥'* (अ० मं०)

नोट—६ मिलान कीजिये—*'अबिगत गति जानी न परै॥ मन बच अगम अगाध अगोचर केहि बिधि बुधि सचरै। अति प्रचंड पौरुष सो मातो केहरि भूख मरै॥ तजि उद्यम आकाश कर बैठ्यो अजगर उदर भरै। कबहुँक तृण बूड़ै पानीमें कबहुँक शिला तरै॥ बागर से सागर कर राखे चहुँ दिशि नीर भरै। पाहन बीच कमल बिकसाहीं जलमें अग्नि जरै॥ राजा रंक रंक ते राजा ले सिर छत्र धरै। 'सूर' पतित तर जाय छनकमें जो प्रभु टेक करै॥'* (वि० टी०)

संभु समय तेहि रामहि देखा। उपजा हिय अति* हरषु बिसेषा॥ १॥
भरि लोचन छबिसिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी॥ २॥

अर्थ—शिवजीने उसी समय श्रीरामजीको देखा। उनके हृदयमें बहुत ही भारी आनन्द उत्पन्न हुआ॥ १॥ छबि-समुद्र श्रीरामचन्द्रजीको नेत्रभर देख कुअवसर (ठीक या उचित अवसर नहीं है यह) जानकर उन्होंने परिचय (जान-पहचान) न किया॥ २॥

टिप्पणी—१ *'संभु समय तेहि रामहि देखा।'* इति। (क) अब यहाँ देखनेका समय बताते हैं। (ख) *'समय तेहि'* अर्थात् जेहि समय *'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥'* जिस समय विरहमें व्याकुल प्राकृत नरकी तरह सीताजीको वनमें खोजते फिरते थे—*'तेहि समय'* उसी समय देखा। (ग) *'संभु रामहि देखा'* से जनाया कि शङ्करजीने श्रीरामजीको देखा, श्रीरामजीने उनको नहीं देखा। कारण कि शिवजीको दर्शनकी इच्छा थी; यथा—*'तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची।'* (४८) सो प्रभुने उनको दर्शन दे दिया। शिवजी असमञ्जसमें पड़े थे कि *'केहि बिधि दरसनु होइ'* और कोई विधि बैठती न थी; यथा—*'करत बिचार न बनत बनावा।'* दर्शनका कोई उपाय मनमें जमता न था सो श्रीरामकृपासे बिना परिश्रम दर्शन हो गया। श्रीरामजीने शङ्करजीको नहीं देखा। माधुर्यमें इसका कारण 'व्याकुलता' है और ऐश्वर्यमें तो शिवजी स्वयं उनसे मिलना नहीं चाहते थे, जिसका कारण पूर्व कह आये कि *'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ'* और आगे भी लिखते हैं कि *'कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी'* अतएव सर्वज्ञ, अन्तर्यामी भगवान्‌ने उनकी ओर न देखा। यदि वे देखते तो शिवजी अपने इष्टदेव स्वामीको प्रणाम कैसे न करते ? इत्यादि।

टिप्पणी—२ यहाँ शंका होती है कि 'श्रीरामजी अगस्त्यजीके आश्रमसे दक्षिण पञ्चवटीको गये। सीताहरण पञ्चवटीमें हुआ। शिवजी अगस्त्यजीके आश्रमसे उत्तर कैलासको चले। तब शिवजीकी श्रीरामजीसे भेंट कैसे हुई ?' इसका समाधान यह है कि श्रीरामजी विरहमें व्याकुल हैं; सारे वनमें खोजते-फिरते हैं; यथा—*'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥'* व्याकुलतामें खोजते-खोजते उत्तरकी ओर चले गये। अतः भेंट हो गयी।—यह समाधान माधुर्यके अनुकूल हुआ। ऐश्वर्यके अनुकूल समाधान यह है कि जब शिवजी स्वामिदर्शनार्थ शोचवश हुए अर्थात् अति आर्त्त हुए तब भगवान् सर्व-उरवासी, सर्वव्यापक श्रीरामजीने उनके लिये वहीं प्रकट होकर उनको दर्शन दिये, जैसे सतीजीके सन्देहनिवारणार्थ उन्होंने अनेक रूप प्रकट किये, जिसका वर्णन आगे है।

* तेहि—१७२१, १७६२। अति—१६६१, १७०४।

(स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि अगस्त्याश्रम नगर जिलेके अकोला ताल्लुकाके अकोलाग्रामसे दो मीलपर है। यह स्थान पञ्चवटीकी दक्षिण दिशामें ही है। श्रीरघुनाथजी दक्षिण दिशाकी ओर खोजते जा रहे थे और श्रीशिवजी अगस्त्याश्रमसे उत्तर दिशाकी ओर जाते थे। वाल्मीकीय रामायणमें अगस्त्याश्रम और पञ्चवटीका जो सम्बन्ध वर्णित है, वह इस अगस्त्याश्रम और नासिक पञ्चवटीका आज भी विद्यमान है। अतः उपर्युक्त शंका ही निर्मूल हो जाती है।)

टिप्पणी—३ ***'उपजा हिय अति हरषु बिसेषा'*** इति। ***'अति हरषु बिसेषा'*** का भाव कि श्रीरामदर्शन बिना शिवजीका मन छटपटा रहा था, उनके मनमें अत्यन्त खलबली पड़ी थी; यथा—***'संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ। तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची॥'*** अतएव दर्शन होनेपर 'अति विशेष' हर्ष हुआ। पूर्व 'अति क्षोभ' था, अतः अब 'अति विशेष हर्ष' हुआ।

नोट—१ हर्षका एक कारण तो इष्टदर्शन है। स्मरण रहे कि किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये जितनी ही अधिक उत्कट इच्छा और जितनी ही अधिक व्याकुलता होती है, उतनी ही अधिक प्रसन्नता उसके पानेपर होती है, यथा—***'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरुछाया सुख जाने सोई॥'***

☞शिवजीको श्रीरामचरितके श्रवण, कथन और स्मरणसे सदा ही विशेष आनन्द प्राप्त होता है। ग्रन्थमें विवाह-राज्याभिषेक आदि प्रसङ्ग और कैलास-प्रकरण इसके प्रमाण हैं। और, इस समय तो अकस्मात् साक्षात् दर्शन, वह भी अनायास और एकान्तमें, और ***'भरि लोचन'***—मीठा और कठौतीभर। उसपर भी छबिसिंधु तथा वस्त्राभूषणसे अनावृत शोभाका अघाकर दर्शन और मनुजवेषका पूरा अनुकरण—ये सब 'अति विशेष हर्ष' के कारण हुए।

नोट—२ श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'एक कल्पके बाद (अब पुनः) ***'खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई'*** ऐसा नररूप देखनेमें आया, इससे अत्यन्त हर्ष हुआ।' और पंजाबीजी लिखते हैं कि—'शिवजी प्रभुका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। उनके नरनाट्यमें शोकादि रचनाओंकी पूर्णता देखकर कि खूब स्वाँग रचा है, जैसा इस वेषमें करना चाहिये था वैसा ही कर रहे हैं (अर्थात् शोकादि स्वाँगोंमें नरनाट्यकी पूर्णता देख) प्रसन्न हुए। अथवा, अब दुष्ट रावणका वध अवश्य होगा, यह समझकर प्रसन्न हुए और सौन्दर्यके आनन्दमें मग्न हुए।'

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि भगवान्‌की अपने ऊपर परम कृपा और भक्तवत्सलता देखकर विशेष हर्ष हुआ। भगवान्‌ने मेरे हृदयकी बात जानकर मेरी लालसा पूरी कर दी, इस कृतज्ञताकी भावनासे भी विशेष हर्ष है।

नोट—३ श्रीशङ्करजी श्रीरामजीको विकल देखकर दुःखी न हुए, क्योंकि वे जानते हैं कि प्रभु नरनाट्य कर रहे हैं, कामियोंकी दशा दिखा रहे हैं। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—४ ***'देखा प्रगट बिरह दुख ताके'*** में एक बार ***'देखा'*** क्रिया कह आये हैं; अब यहाँ पुनः देखना कहते हैं—***'संभु समय तेहि रामहि देखा।'*** पहलेमें 'विरह-दुःख' का देखना कहा था और यहाँ श्रीरामजीका दर्शन करना कहते हैं। अतः पुनरुक्ति नहीं है। [प्रथम ***'देखा'*** का कर्त्ता वक्ता या कवि है और दूसरेका कर्त्ता ***'संभु'*** हैं अतः पुनरुक्तिकी बात यहाँ नहीं है।]

टिप्पणी—५ ***'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी'।*** इति। (क) ***'भरि लोचन'*** का भाव कि ये लोचन रूपके लिये लालायित थे, यथा—***'तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची।'*** इसीसे नेत्र भरकर रूपका दर्शन किया। (ख) ***'छबिसिंधु'*** का भाव कि श्रीरामजी समुद्रकी तरह सदा एकरस छबिसे भरे हुए हैं, नित्य शोभाकी नयी-नयी लहरें उठ रहीं हैं, उनके रूपका पार न मिला, वह (रूप) समुद्रवत् अपार है, नेत्र थक (थकित हो) गये, पलक मारना बन्द हो गया। यथा—***'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥'*** (बा० १४८) पुनः, भाव कि पात्र बहुत छोटा है और वस्तु बहुत है।

नोट—४ ***'छबिसिंधु निहारी'*** के और भाव ये हैं—(क) नेत्र मानों घट हैं। उनको छबिसिंधुजलसे भर लिया, तब वह व्याकुलता जो पूर्व थी कम हो गयी और लालची नेत्र किञ्चित् तृप्त हो गये। (द्वा० प्र०)

(ख) नेत्रभर देखा अर्थात् उसी छबिमें डूब गये। (वै०) (ग) एकान्त है, अतः नेत्र भरकर देखा। इस समय कौपीनमात्र धारण किये होनेसे सारे तनकी छबि देख पड़ी। *'जहँ जाइ मन तहँहिं लोभाई।'*

नोट—५ *छबि*=शोभा, सौन्दर्य। बैजनाथजी लिखते हैं कि *'छबि'* अर्थात् शोभाके नौ अंग हैं। यथा—*'द्युति लावण्य स्वरूप सोइ सुंदरता रमणीय। कांति मधुर मृदुता बहुरि सुकुमारता गनीय॥'* शरद्-चन्द्रकी-सी झलक 'द्युति' है। मोतीका-सा पानी 'लावण्य' है। बिना भूषणके ही भूषित होना 'स्वरूपता' है। सर्वाङ्ग सुठौर होना 'सुन्दरता' है। देखी होनेपर भी अनदेखी-सी देख पड़ना 'रमणीयता' है। सोनेकी-सी ज्योति 'कान्ति' है। और जिसको देखकर तृप्ति न हो वह 'माधुरी' है। यहाँ सिंधुमें जो जलकी झलक, जलकी अमलता, तरङ्गें, अपारता, जलका स्वाद, शीतलता, अगाधता और दोनों किनारे हैं, वे ही क्रमशः द्युति, लावण्य, स्वरूप, सौन्दर्य, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता—ये छबिके नौ अङ्ग हैं।'

टिप्पणी—६ *'कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी'* इति। *'कुसमय जानि'* का भाव पूर्व लिखा जा चुका है। यथा—*'रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा॥'*, *'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गए जान सब कोइ'*, *बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥'* अर्थात् जिस समय दर्शन हुआ वह समय व्याकुलताका है, इसलिये मिलनेके योग्य नहीं है इसलिये (*'असमय'* न कहा) *'कुसमय'* कहा।—[जानेसे सब कोई जान जायेंगे। सतीजी भी साथ हैं अतः जाना ठीक नहीं। (रा० प्र०। वै०) दुःख वा वियोगका समय *'कुसमय'* है।] जब रावणवध हो गया तब ऐश्वर्य प्रकट होनेका डर न रह गया तथा जब फिर प्रभु श्रीसीतासहित विराजमान हुए, वियोग दूर हुआ तब *'सुअवसर'* हुआ। इसीलिये तब कविने लिखा कि *'जानि सुअवसर प्रभु पहिं आएउ संभु सुजान।'* (६।११४)

नोट—६ इसपर यह शंका हो सकती है कि शङ्करजी तो *'सेवक स्वामि सखा सिय पीके'* हैं, सखाके नातेसे तो उन्हें अवश्य ऐसे दुःखके समयमें (माधुर्यमें) जाना चाहिये था, ऐसे ही समयमें तो मित्रकी परीक्षा होती है; यथा—*'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥'* (३।५।७) तब उनका भेंट न करना तो मित्रधर्मके प्रतिकूल होगा। मित्र-दृष्टिसे यदि यह शंका है तो इसके अनुसार *'कुसमय जानि'* का भाव यह कहा जा सकता है कि रावण शिवभक्त है। अतः वे सोचते हैं कि हमारे ही भक्तने इनका अपराध किया है, हम इनको जाकर मुँह कैसे दिखावें।

'कुसमय' शब्द ग्रन्थमें और भी आया है। जैसे *'कुसमय समुझि सोक परिहरहू।'* (२।१६५) *'मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥'* (२।२५३) और *'भै अति प्रेम बिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमय बिचारी॥'* (१।१०२) इत्यादि। उपर्युक्त प्रथम और दूसरे उद्धरणमें *'कुसमय'* का अर्थ है—संकट-काल। और तीसरेमें उसका अर्थ है—योग्य समय नहीं, अनुचित समय। यही अन्तिम अर्थ *'कुसमय जानि.........'* के *'कुसमय'* का है।

मुं० रोशनलालजी *'कुसमय'* का भाव यह लिखते हैं—'श्रीरघुनाथजी शिकारी हैं और खरदूषण-त्रिशिरा-रावणादि मृग शिकार बाणके सन्मुख आ पड़े हैं। शिवजी विचारते हैं कि हमारे चिन्हारी करनेसे शिकार भाग न जाय।'—(पर खरदूषणादिका वध तो हो चुका और रावण भाग भी गया।)

टिप्पणी—७ *'न कीन्हि चिन्हारी'* इति। (क) पूर्व जो कहा था कि *'मन डरु लोचन लालची'* मन ऐश्वर्य खुलनेको डरता है और नेत्र दर्शनके लालची हैं—इन दोनोंको यहाँ चरितार्थ किया है। लोचन लालची हैं, इसीसे *'भरि लोचन'* छबिको देखा। और मन डरता है इसीसे *'चिन्हारी'* न की। (ख) चिन्हारी-जान-पहिचान, मुलाकात।—निकट नमस्कार, कुशल-प्रश्न-वार्ता। (वै०)

जय सच्चिदानंद जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥ ३॥
चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥ ४॥

अर्थ—*'जय सच्चिदानंद जग पावन'* (अर्थात् हे सच्चिदानन्द! हे जगत् को पावन करनेवाले! आपकी

जय।)—ऐसा कहकर कामदेवके नाश करनेवाले शिवजी चल पड़े॥ ३॥ कृपाके धाम शिवजी सतीसमेत चले जा रहे हैं और बारम्बार पुलकायमान हो रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'जय सच्चिदानंद जग पावन'* इति। 'हे सच्चिदानन्द! हे जगपावन! आपकी जय हो' ऐसा कहकर शिवजीने प्रणाम किया। अथवा, *'जय सच्चिदानंद जग पावन'* यह प्रणाम ही है। यहाँ शिवजीका प्रणाम करना नहीं कहते। पर आगे सतीजीके विचारमें प्रणाम करना स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है। यथा—*'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद।'* (ख) *'सच्चिदानंद'* इति। आप सच्चिदानन्द हैं अर्थात् पूर्णब्रह्म वा परब्रह्म हैं। *'सच्चिदानंद'* का अर्थ 'ब्रह्म' है, यह सतीजीके विचारोंमें आगे कहा है। सतीजी विचार कर रही हैं कि जिसे शिवजीने *'सच्चिदानंद परधाम'* कहकर प्रणाम किया है वह ब्रह्म कैसे हो सकता है?' यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'* (५०) इस प्रकार *'सच्चिदानंद परधाम'* का अर्थ इस दोहेका पूर्वार्द्ध हुआ। (ग) *'जगपावन'* का भाव कि आप पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, आप अवतार लेकर जगत्को पवित्र कर रहे हैं। आपकी लीला जगत्के हितके लिये है। यथा—*'सकल लोक जगपावनि गंगा।'* (बा० ११२) स्मरण रहे कि श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम—चारों पावन हैं और चारों ही जगत्को पावन करनेवाले हैं। यथा—

नाम—*सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥*
रूप—*मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जनसुखदाई।*
चरित—*जगपावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥*
धाम—*बंदौं अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि॥*

पुनः, *'जगपावन'* का भाव कि 'आप तो वास्तवमें जगत्को पवित्र करनेके लिये ही विचर रहे हैं', नहीं तो आप तो 'परधाम' के वासी हैं।'

नोट—१ *'सच्चिदानंद जगपावन'* इति। पूर्व *'बिरह बिकल नर इव रघुराई'* अर्थात् श्रीरघुनाथजीका नरसमान व्याकुल होना कहा गया था, पर यह न बताया गया था कि वे *'रघुराई'* नर नहीं हैं तो कौन हैं ? उसका निराकरण यहाँ *'जय सच्चिदानंद०'* से करते हैं। अर्थात् यह बताते हैं कि वे *'रघुराई'* सत्-चित्-आनन्दघन ब्रह्म हैं, नर नहीं हैं। इस तरह *'सच्चिदानंद'* शब्दसे परब्रह्मका अवतार और *'जगपावन'* से उनके अवतारका हेतु कहा गया।

पंजाबीजी लिखते हैं कि '**नमः सच्चिदानंद**' न कहकर *'जय सच्चिदानंद'* कहनेका आशय यह है कि प्रभुने यह ठाट रावणवधनिमित्त रचा है। इसलिये शिवजी आशीर्वाद देते हैं कि इस कार्यमें आपकी जय हो। यह आसिष सेवक, स्वामी और सखा सब भावोंमें बनती है। अनन्त श्रीरूपकलाजी महाराज फरमाते हैं कि *'जय'* का अर्थ भगवान्के सम्बन्धमें 'आपकी सदा जय है' ऐसा है। श्रीसूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि *'जय'* शब्दके अनेक अर्थ हैं—(क) शत्रुको पराङ्मुख करना अर्थात् जीतना। इससे अर्थ हुआ कि 'आप शत्रुको जीतें'। (ख)—नमस्कार। (ग) '**जयति अनेन जयः *ग्रन्थः***'। अर्थात् श्रुति-स्मृति-पुराणादि आपको *'सच्चिदानंद जगपावन'* कहते हैं, मैं क्या चीज हूँ। भविष्यपुराणमें *'जय'* का अर्थ यही लिखा है। यथा—'**अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा। विष्णुधर्मादिशास्त्राणि शिवधर्माश्च भारत॥ कार्ष्णं च पञ्चमो वेदो यन्महाभारतं स्मृतम्। सौराश्च धर्मराजेन्द्र मानवोक्ता महीपते॥ जयेति नाम एतेषां प्रवदन्ति मनीषिणः।**' (मा० प०) (घ) *'जय'* कहकर भी प्रणाम करनेकी एक रीति है। यथा—*'कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए।'* (अ० ५२) *'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई।'* (अ० ३८) *'देखि सचिव जय जीव कहि कीन्हेहु दंड प्रनामु।'* (२।१४८) तथा च '**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥**' (भा० १।२।४) बैजनाथजी लिखते हैं कि '**सत्**=शुद्ध धर्मात्मा। **चित्**=सबके चैतन्यकर्त्ता। ...... '**जयः शत्रुपराङ्मुखीकरणेन लब्धस्योत्कर्षस्य इत्यमरविवेके**' अर्थात् शत्रुपराजयसे जो बड़ाई होती है उसे जय कहते हैं।'

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'शिवजी *'सेवक स्वामि सखा सिय पीके'* हैं। अत: अधिकारभेदानुसार यहाँ *'जय'* शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। स्वामि और सखाभावसे यह अर्थ उचित है कि 'जिस हेतुसे यह लीला हो रही है, उसकी सफलता शीघ्रतम हो जाय।' सेवकभावसे यह अर्थ है कि 'आप अपनी जगपावनी शक्ति शीघ्रतम प्रकट कीजिये (वेदस्तुतिके *'जय जय ब्रह्मजाम्'* श्लोककी श्रीधरी टीका देखिये)—और निशाचरवध करके जगत्‌को शीघ्रातिशीघ्र पावन कीजिये।

मानसमें श्रीशिवजीने श्रीरघुनाथजीको केवल एक बार ही प्रत्यक्ष प्रणाम किया है। पार्वती-विवाह-प्रकरणमें *'प्रगटे रामकृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥'''''* (७६।५) रावणवधके पश्चात् शिवजीने समीप जाकर हाथ जोड़कर स्तुति की है—*'मामभिरक्षय रघुकुलनायक। धृतबर चाप रुचिर कर सायक॥'''''* (६।११४) किन्तु इन दोनों प्रसंगोंमें प्रणाम करनेका उल्लेख नहीं है। उत्तरकाण्डमें राज्याभिषेकके समय *'जय राम रमारमनं शमनं'* कहकर स्तुति की और उस समय *'तव नाम जपामि नमामि हरी।'* इन शब्दोंसे प्रणाम किया है। यह स्तुति ऐश्वर्यभाव प्रधान है। माधुर्यभावमें *'रघुकुलनायक'* को प्रणाम नहीं किया।

नोट—२ *'जगपावन'* का भाव कि जगत् राक्षसोंके उपद्रवसे अपावन (भ्रष्ट) हो गया था, अत: उसको पवित्र करनेके लिये आपका अवतार हुआ। यथा—*'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।'* (बा० १८३) इत्यादि। (मा० प०)

टिप्पणी—२ *'जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥'* इस अर्धालीका अनुष्ठान करनेसे कामका नाश होता है। अर्थात् मनमें कामकी वासना नहीं होती।

टिप्पणी—३ *'अस कहि चलेउ मनोज नसावन'* इति। (क) पूर्व कह आये हैं कि शिवजी मुनिसे विदा माँगकर चले, यथा—*'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी॥'* और यहाँ पुनः चलना कहते हैं। यहाँ पुन: चलना लिखनेसे पाया गया कि श्रीरामदर्शनार्थ शिवजी खड़े हो गये थे। जब दर्शन कर चुके तब पुन: *'चले'* का भाव कि 'श्रीरामजीका' दर्शन दूरसे हुआ है। ऐसा न हो कि प्रभु इधर ही चले आवें तो सामना हो जानेसे काम बिगड़ जाय। अत: अधिक ठहरे नहीं। *'जय सच्चिदानंद जगपावन'* इतनामात्र कह चलते हुए।

(ख) *'मनोज नसावन'* इति। ☞यहाँ काव्यालङ्कारोंसे अनभिज्ञ लोग यह शङ्का कर बैठते हैं कि 'कामदेवका भस्म करना तो सतीतनत्यागके पश्चात् पाया जाता है। यहाँ प्रथम ही यह विशेषणसे कैसे दिया गया ?' इसका समाधान एक तो यह है कि काव्यकी यह एक रीति है, उसका यह एक अलङ्कार है कि कवि भूत और भविष्यको प्रत्यक्ष-सा वर्णन करता है। इसे 'भाविक' अलङ्कार कहते हैं। यथा—*'भाविक भूत भविष्य जहँ परतछ होहिं बनाय'* इति। (भाषाभूषणे)। **'भावितं भूतं भविष्यं साक्षात्कारस्य वर्णनम्।'** शिवजी कामका नाश भविष्यमें करेंगे, कविने उस भविष्यको पूर्व ही कह दिया। इस प्रकारके उदाहरण ग्रन्थमें ठौर-ठौरपर मिलते हैं। यथा—*'भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी।'* (बा० १९२) (यहाँ कौसल्याजी प्रभुके प्रकट होते ही उनको *'खरारी'* सम्बोधन करती हैं) *'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जनसुखदाई।'* (बा० २११) (श्रीसीताहरणके पश्चात् रावणरिपु होंगे पर अहल्याने उनको पूर्व ही रावणरिपु कह दिया) तथा—*'भृगुपति केरि गरबु गरुआई।'* (२६०।५) (परशुरामजी अभी आये भी नहीं, धनुर्भंग भी नहीं हुआ और उनका गर्वदलन पहले ही कह दिया गया) इत्यादि। [दूसरे, प्रत्येक कल्पमें अवतार होते हैं; यथा—*'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥'* (बा० १४०) जिनमें मुख्य चरित्र प्राय: एकहीसे होते हैं। उन्हींके अनुसंधानसे कवि प्राय: सभी विशेषण दिया करते हैं। तीसरे, शिवजी तो सदासे ही कामको जीते हुए हैं जैसा कि पार्वतीजीके वचनोंसे स्पष्ट है; यथा—*'तुम्हरे जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥ हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥'* (बा० ९०) आगे जो कामदेवका नाश वर्णन किया गया है, वह तो एक लीलामात्र है। चौथे, यह शंका गोस्वामीजीके इस कथनसे भी निर्मूल जान पड़ती है कि देवता अनादि हैं, उनके चरित्रोंमें संदेह

न करना चाहिये। यथा—'*मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि॥*' (बा० १००) जब सुर अनादि हैं तो उनके गुण और नाम भी अनादि हुए ही!]

(ग) '*मनोज नसावन*' विशेषण देकर जनाया कि शिवजीकी श्रीरामजीमें निर्दोष भक्ति है। कामादि भक्तिके दोष हैं। यथा—'**भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।**' (सुं० मं०), '*तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥*' (सुं० ४६) ☞ दर्शन करना, नामोच्चार करना, प्रेमसे पुलकित होना—यह शिवजीकी श्रीरामजीमें भक्ति दिखायी।

नोट—३ '*मनोज*' शब्द यद्यपि कामवाचक ही प्रसिद्ध है तथापि उसका अर्थ मनमें 'जायमान' यह होनेसे काम-क्रोधादि सभी राजस-तामस वृत्तियोंका उससे ग्रहण हो सकता है। इस तरह '*मनोज नसावन*' कहकर उनको निष्काम भक्त और काम-क्रोधादि विकारोंसे रहित जनाया। सेवकके लिये विकाररहित होना आवश्यक है तभी तो श्रीसुमित्रा अम्बाजी उपदेश देती हैं कि '*राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इनके बस होहू॥ सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥*' (२।७५)

नोट—४ '*मनोज नसावन*' विशेषण देकर वक्ता यहाँ यह दिखाते हैं कि शिवजी कामके नाशक हैं और श्रीरामजी उनके भी इष्ट हैं, तब भला वे कामासक्त कैसे हो सकते हैं? कामीका ढंग केवल बनावटी स्वाँग है। (श्रीरूपकलाजी) '*मनोज नसावन*' भला कामीका भक्त कैसे हो सकता है ? पुनः भाव कि शिवजी ऐसे समर्थ हैं (कि लोकविजयी कामको भी नाश कर डाला) तभी तो ऐसे माधुर्यमें भी श्रीरामजीको ऐश्वर्यमय देख रहे हैं, भला कामी कभी प्रभुके वास्तविक स्वरूपको लख सकता है? कदापि नहीं।

टिप्पणी—४ '*चले जात सिव सती समेता*' इति। '*चले जात*' का भाव कि प्रथम दर्शनकी आशासे रुके थे, अब दर्शन हो गया, अतः अब बराबर चले जा रहे हैं। शिवजीका सतीजीमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे वक्ता उनको बराबर सतीसमेत ही दिखाते आ रहे हैं। यथा—'*संग सती जगजननि भवानी।*', '*चले भवन संग दच्छकुमारी*' तथा यहाँ '*सती समेता।*'

[प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि पहले कहा कि '*अस कहि चलेउ मनोज नसावन*' और अब कहते हैं '*चले जात सिव सती समेता*', यह पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार है। यह नाट्यका एक सुन्दर नमूना और शिवजीकी प्रेममग्न दशाका प्रदर्शक है। रूपदर्शनानन्द तथा रामप्रेममें वे इतने मग्न हैं कि उनको परिस्थितिका भान ही नहीं रह गया, सतीजी साथमें हैं यह भी वे भूल गये और अकेले ही चल पड़े। सतीजी त्वरासे पीछे चलने लगीं तब नूपुरादिकी ध्वनिसे होश आ गया और किंचित् काल खड़े रहे, इतनेमें सतीजी समीप आ गयीं, तब '*चले जात सिव सती समेता*' कहा, यह मनोहर नाट्य है।]

टिप्पणी—५ '*पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता*' इति। (क) पुनि-पुनि पुलकना कहकर जनाया कि श्रीराम-दर्शनसे शिवजीको विशेष हर्ष और सुख उत्पन्न हुआ। सामान्य हर्ष होता तो सामान्य पुलकावली होती। [पुनः भाव कि जैसे-जैसे प्रभुकी छवि और उनके चरित्रोंका स्मरण होता जाता है, वैसे-ही-वैसे आनन्दसे पुलकित होते जाते हैं। (मा० प०)] (ख) '*कृपानिकेता*' का भाव कि शिवजी योगीश्वर हैं; चाहें तो योगबलसे एक पलमें कैलास पहुँच जायँ, पर ऐसा न करके सब जीवोंपर कृपा करके सबको दर्शन देते हुए सतीसमेत चले जा रहे हैं। (बैजनाथजीका मत है कि अपनेमें प्रेम दर्शाकर स्त्रीको भी श्रीरामरूपकी प्रेमिन बनाना चाहते हैं, अतः '*कृपानिकेता*' कहा। त्रिपाठीजीका मत है कि दक्षकुमारीका मन नहीं लगा, इसलिये भवन चले थे, यहाँ भी थोड़ा ही ठहरे, अतः '*कृपानिकेता*' कहा।)

सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥ ५॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत* सीसा॥ ६॥

* नावहि—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। नावत—१६६१, १७०४।

तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द परधामा॥७॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥८॥

अर्थ—सतीजीने शङ्करजीकी वह (प्रेम) दशा देखी। उनके हृदयमें भारी सन्देह उत्पन्न हुआ॥५॥ श्रीशङ्करजी जगत्पूज्य और जगदीश्वर हैं। देवता, मनुष्य, मुनि सभी उनको माथा नवाते हैं॥६॥ (सो) उन्होंने (एक) राजकुमारको 'सच्चिदानन्द परधाम' कहकर प्रणाम किया॥७॥ (और) उसकी छबि देखकर (उसमें ऐसे प्रेम) मग्न हो गये हैं (कि) अब भी प्रेम उनके हृदयमें रोकनेसे भी नहीं रुकता। (अर्थात् हृदयमें नहीं अमाता, बाहर उमड़ता चला ही आता है)॥८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सतीं सो दसा संभु कै देखी'*** इति। शम्भुकी दशा देखी कहकर जनाया कि सतीजीने शिवजीके हृदयकी बात न जान पायी थी, दशा देखनेपर जानी। (ख) ***'उर उपजा संदेहु बिसेषी'*** अर्थात् दशा देखनेपर विशेष संदेह हुआ। 'विशेष' संदेहका भाव कि—(१) संदेह तो प्रणाम करनेपर ही हुआ था। परंतु प्रेमकी दशा ***'पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता'*** देखकर 'विशेष' संदेह हुआ। तात्पर्य कि बाह्येन्द्रियोंका व्यवहार देख संदेह हुआ और अब भीतरका व्यवहार देख विशेष संदेह हुआ। ***'जय सच्चिदानंद जगपावन'*** कहनेसे संदेह हुआ और पुलकावलीसे अधिक संदेह हुआ। (रा० प०)

(२) (पंजाबीजीका मत है कि श्रीरामजीको शोकातुर देखकर सामान्य संशय हुआ और शिवजीकी दशा देखकर विशेष संदेह हुआ। पं० रामकुमारजीका मत यह नहीं है। वे कहते हैं कि) 'शिवजीकी दशा देखकर संदेह हुआ' इस कथनका आशय यह है कि श्रीरामजीका चरित देखकर उनको संदेह न हुआ, क्योंकि सतीका यह निश्चय है कि रघुनाथजी मनुष्य हैं; यथा—***'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'*** (५०) यदि वे श्रीरामजीको ईश्वर जानतीं तो संदेह न होता। यथा—***'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥'*** (७।५८) (इति गरुड:), ***'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥'*** (इति भुशुण्डि:)

(३)['संदेहका वर्णन ***'संकर जगतबंद्य जगदीसा'*** से प्रारम्भ हुआ। भाव कि चराचर हमारे पतिकी वन्दना करता है। इनको आजके पूर्व कभी किसीको प्रणाम करते नहीं देखा। अत: संदेह होना उचित ही है। फिर चराचरपति होकर भी इन्होंने एक साधारण राजकुमारको ***'सच्चिदानन्द परधामा'*** कहकर प्रणाम किया, अत: विशेष संदेह होना उचित ही है। उसपर भी प्रेम हृदयमें समाता नहीं, यह भी कारणविशेष है।' (सुधाकर द्विवेदीजी)]

नोट—१ ***'बिसेषी'*** (विशेष) का अर्थ वस्तुत: 'बहुत' वा भारी है। यहाँ ***'उपजा'*** क्रियासे इसी समय 'विशेष' संदेहका उत्पन्न होना पाया जाता है। पूर्व उत्पन्न हुआ था, अब बढ़ा ऐसा नहीं। जब परस्परविरोधी दो बातें देखी जाती हैं तब संदेह उत्पन्न होता है। यदि उन दोनोंमेंसे एक बात विशेष पुष्ट होती है और दूसरी कम, तब संदेह सामान्यरूपसे होता है और दोनों पक्ष समान बलवान् होते हैं तब संदेह भी विशेषरूपसे हो जाता है। 'विशेष संदेह' कहनेका तात्पर्य है कि जो अपने विचारसे अथवा बिना भगवत्कृपाके न छूट सके।

टिप्पणी—२ ***'संकर जगतबंद्य जगदीसा।'......'*** इति। (क) शङ्कर जगद्वन्द्य हैं। अर्थात् जगत् इनकी वन्दना करता है और ये जगन्मात्रका कल्याण करते हैं, इसीसे इनको 'शङ्कर' कहते हैं। ***'सुर नर मुनि सब'*** अर्थात् छोटे-बड़े, सामान्य-विशेष सभी—[सुरसे स्वर्गलोकवासी, नरसे मर्त्यलोकवासी, मुनिसे विरक्त लोकव्यवहाररहित दोनों लोकोंके निवासी और 'सब'में राक्षस, दैत्य, दानव, वानर आदि शेष सब कहे गये। इस तरह त्रैलोक्यवासियोंसे वन्दित जनाया। (मा० सं०) पुन: भाव कि जगत्‌के वन्द्यने किसकी वन्दना की ? जगदीशने किसको ईश माना ? जिसको सुर-नर-मुनि शीश नवाते हैं, उसने किसे सिर नवाया ? ऐसेको तो शङ्करसे भी बड़ा होना चाहिये (वि० त्रि०)।] (ख) ***'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा'***

उन्होंने राजकुमारोंको प्रणाम किया, इस वाक्यसे पाया जाता है कि सतीजीने नृपसुत जानकर उन्हें प्रणाम नहीं किया था और शिवजीका प्रणाम करना देखकर भी सतीजीने श्रीरामजीको प्रणाम नहीं किया। (ग) ***'कहि सच्चिदानंद परधामा'*** इति। यहाँ दिखाते हैं कि शिवजी अपना मन, वचन और कर्म तीनों श्रीरामजीमें लगाये हुए हैं। मनसे प्रेमकर पुलकित हुए। वचनसे स्तुति की, ***'जय सच्चिदानंद'......'।*** कहा और शरीरसे प्रणाम किया। (घ) ***'कीन्ह परनामा' 'कहि सच्चिदानंद'*** सच्चिदानन्द कहकर प्रणाम किया, इस कथनका तात्पर्य यह है कि राजा समस्त दिग्पालोंका तथा भगवान्‌का स्वरूप माना जाता है; यथा—**नराणां च नराधिपः।'**—इस भावसे शिवजीने प्रणाम किया हो सो बात नहीं है, उन्होंने साक्षात् सच्चिदानन्द परब्रह्म कहकर प्रणाम किया। 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म है, यथा—***'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप। ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥'*** (उ० ४७) वह ब्रह्म रघुनाथजी हैं, उनका परधाम साकेत है। केवल ब्रह्म कहकर परधाम नहीं कहते बनता; क्योंकि ब्रह्मका धाम नहीं होता। ब्रह्म रामरूपसे साकेतमें बसता है। **'परमधाम'**=जिसका धाम सबसे परे है।

टिप्पणी—३ ***'भए मगन छबि तासु बिलोकी।'......'*** इति। (क) ***'मगन भए'*** अर्थात् छबि-समुद्रमें डूब गये। पूर्व छबिको समुद्र कह आये हैं, यथा—***'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।'*** भगवान् राम ही छबिके समुद्र हैं। यथा—***'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी।'*** समुद्रके योगसे यहाँ मग्न होना कहते हैं। यथा—***'राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।'*** मग्न हुए=डूब गये। यथा—***'सिवबियोगसागर नागर मन बूड़न लागेउ सहित चित चैन।', 'बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो।'*** (उ०) (ख) ***'अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी'*** इति। ***'रहति न रोकी'*** से जनाया कि शिवजी उस प्रीतिको छिपाना चाहते हैं, परन्तु वह इतनी बढ़ी हुई है कि दबानेसे भी नहीं दबती, बारम्बार पुलकाङ्गद्वारा बाहर उमड़ी पड़ती है, प्रकट हो रही है। ***'रहति न रोकी'*** पर शंका होती है कि 'प्रीतिको रोकनेका प्रयोजन ही क्या था ?' इसका समाधान यह है कि जब दसवीं दशा होने लगती है तब प्रेमकी उस दशाको रोका जाता है। यथा—***'रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह चढ़े बिबेक जहाज॥'*** (अ० २२०)—[अथवा, इससे रोकते हों कि सतीजी इस मर्मको न जान पावें। ***'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु'......'*** उनको भी न मालूम हो जाय। (मा० सं०) पुनः भाव कि अपरोक्षमें वन्दना की और उनके परोक्षमें ध्यान कर रहे हैं। प्रेमप्रवाहके रोकनेसे बार-बार सात्त्विक भाव हो रहा है। (वि० त्रि०)]

नोट—२ सतीजी प्रभुको राजकुमार समझती हैं इसीसे वे उनके लिये एकवचन ***'नृपसुतहिं'*** और बहुत ओछा, हलका, निरादरसूचक एकवचन ***'तासु'*** शब्दोंका प्रयोग कर रही हैं।

दो०—ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥ ५०॥

अर्थ—जो ब्रह्म सर्वव्यापक, निर्मल, अजन्मा, निरवयव, चेष्टा-इच्छा और भेदरहित है और जिसे वेद भी नहीं जानते, भला (क्या) वह देह धरकर मनुष्य होगा ?॥ ५०॥

टिप्पणी—१(☞ यहाँ सतीजी सोचती हैं कि यदि कहा जाय कि 'शिवजीने इनको सच्चिदानन्द कहा है तो ये अवश्य ही ब्रह्म होंगे', तो ऐसा मान लेनेमें यह आपत्ति आती है कि) ब्रह्म तो ***'व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद'*** है, ऐसे विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मका अवतार होना असम्भव है। क्योंकि जो ब्रह्म अर्थात् बृहत् है, सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका स्वरूप है, वह लघु कैसे होगा ? जो व्यापक है, वह एक ही जगह कैसे हो सकता है (अर्थात् वह एकदेशीय नहीं हो सकता)। जो विरज है, वह गुणयुक्त कैसे हो सकता है ? (गुण प्रकृतिका विकार है।) जो अज है वह जन्म कैसे लेगा ? जो चेष्टारहित है, वह चेष्टा कैसे करेगा? जो अभेद है वह भेदयुक्त कैसे होगा ? और जिसे वेद भी नहीं जानते, उसे सब कोई कैसे जान सकते हैं ?—***'सो कि होइ नर'*** क्या वह देह धरकर मनुष्य होगा ? अर्थात् नहीं

होगा, यह निश्चय है। [यह 'काकु वक्रोक्ति' अलङ्कार है। कोई इसे अर्थालङ्कार मानते हैं और कोई शब्दालङ्कार।]

नोट—१ तात्पर्य यह कि बृहत्का लघु होना, व्यापकका एकदेशीय होना इत्यादि बातें जो ऊपर कहीं, वे सभी असम्भव हैं और इनमें तो ये सभी बातें हैं।—ये छोटे हैं, इनका छोटा-सा शरीर है, ये अयोध्यामें रहते हैं, इनमें विरह-विलापादि विकार हैं, (मन मलीन है, ये कामी हैं), इनका जन्म दशरथजीके यहाँ हुआ, इनमें शिशु, बाल, कुमार, पौगण्ड, युवा आदि अवस्थाएँ और चेष्टाएँ देखी गयीं, इनके शत्रु और मित्र हैं—ये शत्रुओंका नाश करते हैं, ये नर हैं और इनको सब जानते हैं कि ये दशरथनन्दन राजकुमार हैं—ये सब लक्षण ब्रह्मके लक्षणोंसे विरुद्ध हैं। अत: ये ब्रह्म नहीं हैं, यह निश्चय है। ☞ यह संदेह श्रीपार्वतीजी अपने प्रश्नोंद्वारा आगे प्रकट करेंगी। यथा—*'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।'* (बा० १०८)

नोट—२ बाबा हरिदासजी लिखते हैं—श्रीरामजीमें ब्रह्मके लक्षणोंका निश्चय करनेके लिये सतीजी विचारती हैं कि—'ब्रह्म चराचर जीव साहूकार और चोरमें स्वयं व्यापक हैं। ये ब्रह्म होते तो सीताजीको कौन चोर ले जाता। अत: ये व्यापक नहीं हैं। ब्रह्म निर्मल है और ये मलिन हो रोते हैं, अत: ये विरज नहीं हैं। ब्रह्म अज अर्थात् देहधारी नहीं है और ये देहधारी हैं। ब्रह्म अकल है अर्थात् सुन्दर नहीं है, उसमें मन नहीं लगता और ये तो सुन्दर हैं कि ***'जिन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'*** ब्रह्म अनीह है और ये ईहा (व्यापार) युक्त हैं, क्षत्रियोंका व्यापार धनुषबाण धारण किये निशाचरोंको मारते हैं। ब्रह्म अभेद है अर्थात् छिद्ररहित है, सब दिशाओंमें परिपूरित है और ये तो सब दिशाओंमें सीताजीको खोजते हैं। अतएव ये अकल, अनीह आदि नहीं हैं। (शीला०)

नोट—३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सन्देह हो जानेसे मन चञ्चल हो जाता है, मनकी चञ्चलतासे बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट हो जानेसे चाहे अज्ञान-दशामें जो अनुचित कर्म न हो, सो सब आगेके दोहेमें तर्क-वितर्कसे और संशय बढ़नेपर स्पष्ट है।' (मा० प०)

बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ १॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥ २॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जानु सबु कोई॥ ३॥
अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥ ४॥

अर्थ—भगवान् विष्णु जो देवताओंके हितके लिये नरतनधारी होते हैं, वे भी महादेवजीके समान सर्वज्ञ हैं॥ १॥ ज्ञानके धाम, लक्ष्मीजीके पति और असुरोंके शत्रु वे (भगवान् विष्णु) भला (क्या) अज्ञानियोंकी तरह स्त्रीको खोजेंगे ? (कदापि नहीं)॥ २॥ फिर शिवजीकी वाणी भी झूठी नहीं हो सकती। शिवजी सर्वज्ञ हैं (यह) सब कोई जानते हैं॥ ३॥ इस प्रकारका अपार संशय मनमें हुआ। (उनके) हृदयमें प्रबोधका संचार (किसी तरह भी) नहीं हो रहा है॥ ४॥

टिप्पणी—१ ब्रह्म अवतार नहीं लेता यह (ऊपर दोहेमें) निश्चय करके अब कहती हैं कि विष्णु सुरहित अवतार लेते हैं, अनेक रूप धारण करते हैं; यथा—*'धरिहहिं बिष्नु मनुजतनु तहिआ।'* (नारदवाक्य) उनके प्रति प्रणामादि बन सकते हैं। यदि कहें कि ये विष्णु हैं, इन्होंने देवताओंके हितार्थ नर-तन धारण किया है तो यह माना नहीं जा सकता। ये विष्णु भी नहीं हो सकते, क्योंकि विष्णु तो सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधाम हैं, श्रीपति हैं और असुरारि हैं। उनमें अज्ञान कहाँ ? विष्णु होनेमें इतनी शङ्काएँ उत्पन्न हुईं। क्रमसे इनके भाव ये हैं कि—(क) विष्णु सर्वज्ञ हैं अर्थात् भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालका उन्हें ज्ञान है, त्रिकालज्ञ हैं और सर्वज्ञ हैं। अतएव नर-शरीरधारी हुए तो भी सर्वज्ञ हैं। तब उनको सीताजीकी खबर कैसे न होगी ? पर इनको सीताजीकी खबर नहीं है कि कहाँ हैं तभी तो *'लता तरु पाती'* सभीसे पूछते फिरते हैं।—यह भाव *'सोउ सर्बग्य'* का हुआ। अर्थात् विष्णु सर्वज्ञ हैं और ये सर्वज्ञ नहीं हैं, अत: ये विष्णु

नहीं हैं। (ख) यहाँ *'सर्बज्ञ'* के साथ ही *'जथा त्रिपुरारी'* कहा है। अर्थात् विष्णुभगवान् भी सर्वज्ञ हैं और त्रिपुरारि भी सर्वज्ञ हैं। *'त्रिपुरारी'* की समानता कहकर जनाया कि वे शिव-समान समर्थ भी हैं। ☞ यहाँ विष्णु और त्रिपुरारि दोनोंका एक समान सर्वज्ञ होना कहकर आगे इन दोनोंकी स्थिति (अर्थात् इनकी सर्वज्ञताको विचारकर तर्क) यथासंख्यालंकारसे कहती हैं। वह यह कि विष्णु सर्वज्ञ हैं, अतः वे अज्ञकी तरह स्त्रीको न खोजेंगे और त्रिपुरारि सर्वज्ञ हैं, अतः ये बिना जाने 'सच्चिदानन्द परधाम' न कहते। (ग) *'ज्ञानधाम'* हैं, अतः वे अज्ञानीकी तरह स्त्रीको न खोजते; अतः ये विष्णु नहीं हैं। भाव कि विष्णु ज्ञानधाम हैं और ये अज्ञानी हैं। (घ) वे श्रीपति हैं। लक्ष्मीजीके पति होकर प्राकृत नारीके विरहमें व्याकुल नहीं होनेके। लक्ष्मीजीसे बढ़कर सुन्दर कौन है जिसके लिये व्याकुल होंगे ? (पुनः भाव कि श्रीजीका इनसे वियोग कभी सम्भव ही नहीं और न श्रीजी इनको छोड़कर कभी दूसरेके पास जा सकती हैं। परस्त्रीको ये ढूँढ़ेंगे ही क्यों ? (ङ) वे असुरारि हैं। असुर उनसे सदा भयभीत रहते हैं तब भला असुर उनकी लक्ष्मीको हरण ही कब कर सकते हैं। अतः ये न तो निर्गुण ब्रह्म हैं और न विष्णु (सगुण) हैं। पुनः, (च) *'ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी'* इन तीन विशेषणोंको देकर यह भी जनाती हैं कि ये (विष्णु) तीनों गुणोंको धारण करते हैं। ज्ञानधामसे सत्त्वगुण, श्रीपतिसे रजोगुण और असुरारिसे तमोगुणका धारण करना कहा। अर्थात् तीनों गुण इनके वशमें हैं, तीनों गुणोंकी उत्तम सिद्धि इनमें है।

टिप्पणी—२ *'संभु गिरा पुनि मृषा न होई।……'* इति। (क) सतीजीने विचारकर निश्चय किया कि ये न तो ब्रह्म हैं और न विष्णु। (ख) *'पुनि'* शब्दका भाव कि हमने जो बात विचार की है वह मृषा नहीं है। ब्रह्म अवतार नहीं लेता और विष्णु अज्ञ नहीं हैं। (तब कहेंगे कि शिवजीहीकी भूल होगी। उसपर विचार प्रकट करती हैं कि) शिवजीकी भी वाणी मृषा नहीं हो सकती, क्योंकि शिवजी सर्वज्ञ हैं—यह बात *'जान सब कोई'* अर्थात् प्रसिद्ध है, कुछ मैं ही ऐसा नहीं कहती, सभी कहते हैं। अतएव जब उन्होंने राजकुमारको सच्चिदानन्द परधाम कहा है तो ये अवश्य सच्चिदानन्द परधाम होंगे। सर्वज्ञ होकर वे किसी मनुष्यको सच्चिदानन्द कदापि न कहेंगे। (ग) *'जान सब कोई'* कहकर 'सर्वज्ञता' को पुष्ट किया है। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

नोट—१ बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'स्त्रीका वियोग तीन प्रकारसे होता है। एक तो जब पति अज्ञानी वा जड़ हो, पतिमें स्त्रीकी वा स्त्रीमें पतिकी रुचि न हो। दूसरे, पति निर्धन हो। तीसरे, कोई असुर हर ले। सो विष्णुजी तो ज्ञानधाम हैं, श्रीपति हैं और असुरारि हैं। इसलिये यहाँ स्त्रीवियोगका योग ही नहीं है। (शिलावृत्ति)

टिप्पणी—३ *'अस संसय मन भएउ अपारा।……'* इति। (क) यहाँतक संशयका स्वरूप दिखाया। *'सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेषी॥'* (५०। ५) उपक्रम है और *'अस संसय मन भएउ अपारा'* उपसंहार है। संशय पहले 'विशेष' था अब अपार हो गया, अर्थात् वृद्धि-क्रमपर है। (ख) *'अपारा'* का भाव कि अनेक प्रकारसे समझनेका प्रयत्न किया, समझा, पर संशयका पार नहीं मिला। *'अपारा'* कहकर संशयको समुद्र बताया। आगे श्रीशिवजी जहाजरूप होकर इनको पार करेंगे, जैसे गरुड़जीको भुशुण्डिजीने पार लगाया। यथा—*'मोहजलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥'* (उ० १२५) यहाँ 'संशय' के दो 'पार' (किनारे) हैं। सतीजी दोनों ओर पार नहीं पातीं। वे दो तट ये हैं—विष्णु अज्ञ नहीं हैं कि अज्ञकी तरह स्त्रीको खोजें और शिव सर्वज्ञ हैं, उनकी 'गिरा' मृषा नहीं है; वे मनुष्यको सच्चिदानन्द न कहेंगे। इन दोनोंमेंसे यदि एक ही बात होती तो संशय मिट जाता (पर एक रहने नहीं पाती। वे दोनों ही पक्ष दृढ़तापूर्वक ग्रहण किये हुए हैं। दोनोंको सत्य निश्चय किये बैठी हैं)। (ग) *'होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा'* इति। भाव कि प्रबोधका प्रचार करती हैं; बुद्धिको दौड़ाती हैं; मनको समझाती हैं; एक बात निश्चय करनेका प्रयत्न करती हैं, फिर भी हृदयमें ज्ञान नहीं होता। यथा—*नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥'* (उ० ५९) [**प्रबोध**=प्रकर्ष बोध, ज्ञान। **प्रचार**=प्रादुर्भाव सञ्चार, पसारा। **अपारा**=जिसका वारापार नहीं, असीम, बेहद। अर्थात्

सन्देह-पर-सन्देह बढ़ता ही गया। बैजनाथजी '**प्रचार**' का अर्थ 'विस्तार', 'प्रकाश' लिखते हैं कि 'श्रीरामरूपमें निश्चय न हुआ कि ये कौन हैं, इत्यादि संशयोंके कारण उनके हृदयमें ऐसा महामोह छा गया कि बुद्धिमें आवरण हो गया, जिससे शिववचनरूप दीपकसे ज्ञानका प्रकाश न हुआ।' अर्थात् यहाँ संशय अन्धकार है, शिवोपदेश दीपक है, ज्ञान प्रकाश है। परंतु शिवोपदेश तो आगे है। सम्भवत: 'शिववचन' और 'शिव-उपदेश' से उनका तात्पर्य '***जय सच्चिदानंद परधामा*******।**' हो]

जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी॥ ५॥
सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर* काऊ॥ ६॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई॥ ७॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ ८॥

अर्थ—यद्यपि सतीजीने प्रत्यक्ष (कुछ) नहीं कहा (तथापि) अन्तर्यामी शिवजी सब जान गये॥ ५॥ (और बोले) हे सती! सुनो, तुम्हारा स्त्रीस्वभाव है, मनमें ऐसा सन्देह कभी भी न रखना चाहिये॥ ६॥ जिनकी कथा अगस्त्य ऋषिने गायी (कही) और जिनकी भक्ति मैंने मुनिको सुनायी॥ ७॥ वही मेरे इष्टदेव ये रघुवीरजी हैं, जिनकी सेवा धीर मुनि सदा किया करते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी*' इति। भवानीने प्रकट क्यों न कहा? उन्होंने भयवस प्रकट न किया, यह समझकर कि शिवजीसे यह बात कहनेयोग्य नहीं है। जिनको शिवजीने सच्चिदानन्द कहकर प्रणाम किया, उनको हम ब्रह्मसे तथा विष्णुसे पृथक् (भिन्न) नृपसुत समझती हैं। यह बात कहनेसे शिवजीको अच्छी न लगेगी। यथा—'*एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी॥ तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।*' (११४) इत्यादि। [कहनेसे पतिवचनका उल्लंघन पाया जाता है। जो पातिव्रत्य धर्मके प्रतिकूल है। अत: मुखसे कहना अनुचित जानकर न कहा। वै०]

टिप्पणी—२ '*हर अंतरजामी सब जानी*' इति। ☞ शिवजी सतीजीके हृदयकी जान गये, पर सतीजी उनके हृदयकी न जान पायीं जैसा पूर्व कह आये हैं, यथा—'*संकर उर अति छोभु सती न जानइ मरमु सोइ।*' इससे जनाया कि भगवान्‌में मायासे अधिक ज्ञान है (वा, यों कहिये कि शक्तिसे शक्तिमान्‌में अधिक ज्ञान है)। शिवजी भगवान् हैं, सतीजी माया हैं, यथा—'*तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।*'

मानसतत्त्वविवरण—''हर' शब्द भोक्ता कहा जाता है, प्रधानके भोक्तृत्वसे हरता है तो अब इस सुरता-परिपक्वतासे जो हमने चरित्र किया है, श्रीशङ्करभगवान् नहीं जानें तो भला है, ताते सोई अन्तर्यामित्व-हरत्वधर्म करि (के द्वारा) ठीक-ठीक जान जानेका कारण हुआ, जैसा अब भी योगीन्द्रोंमें पाया जाता है। पुन:, 'हर' शब्दका भाव कि कृपा करके बोले क्योंकि जीवोंके दु:खोंके हरनेवाले हैं। ऐसा संशय करनेसे भवमें पड़ना होता है। जो क्लेशोंको हरे वह हर है, यथा—'*क्लेशं हरतीति हर:*'।'

प० प० प्र०—१ सतीजी पतिव्रता हैं, भवकी पत्नी हैं। '*सिव सर्बग्य जान सबु कोई*' यह वे निस्सन्देह जानती हैं, अपने हृदयका संशय उनसे छिपा न रहेगा, इत्यादि जाननेपर भी उन्होंने कहा नहीं। यह व्यवहार 'भवानी'-पदके अनुचित-सा हुआ। ऐसा होना सतीजीके सहज स्वभावमें असम्भव था। इस बातको कवि '*हर अंतरजामी सब जानी*' कहकर ध्वनित करते हैं। २ '*हर अंतरजामी*' शब्दोंमें श्लेष है। हर-अन्तर्यामी श्रीरघुनाथजी तथा सतीके अन्तर्यामी हर। पत्नीको पतिके अनुकूल रहना चाहिये, सतीने ऐसा नहीं किया। शिवजीने प्रणाम किया, सतीने तब प्रणाम नहीं किया। यह शिव-अपमान हर-अन्तर्यामी श्रीरघुपति सह

* तन—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, रा० प्र० (परंतु रा० प्र० में अर्थमें 'मन' है)। मन-को० रा०। उर—१६६१, १७०४।

न सके। अतः उन्होंने अपनी मायाको प्रेरित करके सतीके हृदयको महाप्रबल सन्देहोंका क्रीड़ास्थान बना दिया। इसीसे संशयहारक हर भी इन संशयोंका हरण करनेमें असमर्थ ही ठहरेंगे। शिवजी अभी यह नहीं जानते कि इनको हरिमाया लगी है, वे यही समझते हैं कि स्त्री-स्वभावसे ऐसा हुआ है।

वि० त्रि०—सब जान गये और समझा कि पूछनेपर कहनेसे सामान्य बात हो जायगी, बिना पूछे कहेंगे तो विश्वास होगा कि जो मनकी बात जान लेता है उसका कहना अन्यथा नहीं हो सकता और संशय जाता रहेगा। **'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'** यह नियम ऐसे अवसरके लिये नहीं है, ऐसे संशयका इनके हृदयमें क्षणभरके लिये होना भी इन्हें अपने पदसे गिरा सकता है। उस महाप्रभुके पर-रूपके देखनेमें देवता भी असमर्थ हैं, जब वे कृपासिन्धु लोकमङ्गलके लिये शरीर धारण करते हैं, तभी उनके पूजनका मार्ग निरर्गल होता है। तब उनके अवतीर्ण होनेपर संशय करना तो उस कृपाधारासे अपनेको वञ्चित करना है, जो लोकमङ्गलके लिये पृथ्वीपर बह रही है। अतः बिना पूछे भी कहते हैं।

टिप्पणी—३ ***'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ'*** अर्थात् यह अविवेक जो तुम्हारे हृदयमें उत्पन्न हुआ है, यह तुम्हारा स्त्री-स्वभाव है, नहीं तो श्रीरामजीमें सन्देह करनेका प्रयोजन ही क्या था ? उनकी कथा और भक्ति तुम अभी-अभी सुन चुकी हो तब तो सन्देहका प्रयोजन ही नहीं रह गया। स्त्रीस्वभाव, यथा—***'अहो मोह महिमा बलवाना। नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥'*** (लं० १६) [नोट—पं० रामकुमारजीके मतानुसार यहाँ ***'अविवेक'*** स्वभाव अभिप्रेत है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि—***'नारि सुभाउ'*** का भाव यह है कि—'जहाँ सन्देह न होना चाहिये वहाँ सन्देह करना स्त्री-स्वभाव है, बुद्धि विचारमानोंका नहीं (रा० प्र०)।' विचारमान संशय उत्पन्न होते ही उसके निरसनका प्रयत्न करते हैं, उसे हृदयमें छिपाये नहीं रखते (वि० त्रि०)। और किसी-किसीका मत है कि यहाँ अविवेक, साहस और चपलता स्वभावसे तात्पर्य है, पर अविवेक मुख्य है। सर्वज्ञ शिवजीसे दुराव करना साहस है।]

टिप्पणी—४ ***'संसय अस न धरिय उर काऊ।'*** इति। भाव कि ऐसा संशय हृदयमें लानेसे ज्ञान-वैराग्यादि गुण नष्ट हो जाते हैं; यथा—***'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥'*** (बा० ११९) ☞सतीजी ऐसा संशय हृदयमें लायीं, इसीसे उनके हृदयमें उनके ज्ञानका प्रचार न हुआ। यथा—***'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'*** पुनः भाव कि—[संशयात्माका कल्याण नहीं होता, यथा—**'संशयात्मा विनश्यति'**। **'न धरिय'** अर्थात् इसको हृदयसे निकाल डालो, यह धरनेकी वस्तु नहीं है निकालकर फेंक देनेकी है। ***'काऊ'*** अर्थात् भूलकर भी कभी।]

टिप्पणी—५ ***'जासु कथा कुंभज रिषि गाई""।'*** इति। सतीजीके मनमें संशय हुआ, अन्तर्यामी शङ्करने सब जान लिया; अतः संशयका निषेध करने लगे। निषेध करनेमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण देते हैं। ***'जासु कथा कुंभज रिषि गाई'*** इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अर्थात् तुमने कुम्भज ऋषिके मुखसे उनकी कथा सुनी और उनकी भक्ति हमारे मुखसे सुनी। अतएव उनके विषयमें सन्देह न करना चाहिये। तुम संशय करती हो सो नारि-स्वभावसे। प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि कानसे सुना है। ***'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।'*** यह अनुमान प्रमाण है। अर्थात् हमारे इष्टदेव हैं, धीर मुनि उनकी सेवा करते हैं; इससे तुम्हें अनुमान कर लेना चाहिये कि श्रीरामजी नर नहीं हैं। ***'कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं'*** यह शब्दप्रमाण है। प्रमाण चार प्रकारके हैं; उनमेंसे यहाँ तीन प्रमाण दिये गये। चौथा उपमान प्रमाण न दिया, कारण कि विशिष्टाद्वैती तीन ही मानते हैं, उपमानको नहीं मानते।

नोट—प्रमाण कितने प्रकारके हैं इसमें आचार्योंमें मतभेद है। चार्वाक् 'प्रत्यक्ष' एक ही प्रमाण मानते हैं। कणाद और बौद्ध 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दो मानते हैं। सांख्य (कपिलभगवान्) योग पतञ्जलि और कोई एक नैयायिक (भूषणीय) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द' ये तीन मानते हैं। नैयायिक (गौतम) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द' और 'उपमान' ये चार मानते हैं। प्रभाकर (गुरु) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द',

'उपमान' और 'अर्थापत्ति' ये पाँच मानते हैं। भाट्ट (कुमारिल भट्ट मीमांसक) और अद्वैत-वेदान्ती उपर्युक्त पाँच और 'अभाव' (अनुपलब्धि) ये छ: मानते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत-वेदान्ती प्रथम तीन ही मानते हैं। पौराणिक उपर्युक्त छ: और 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' ये आठ मानते हैं। प्रमाण **'तार्किकरक्षायाम्'** यथा—'**प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद् सुगतौ पुनः। अनुमानं च तच्चाथ सांख्याः शब्दं च ते अपि॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन॥ ८॥ अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः। अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा॥ ९॥ सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः।**' तान्त्रिक एक 'चैष्टिक' प्रमाण भी मानते हैं। परन्तु प्रथम तीन 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द' प्रधान हैं, इन्हींके अन्तर्गत अन्य सब प्रमाण आ जाते हैं। लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसङ्गमें अनुमान और शब्द दो प्रमाणोंसे काम लिया गया है। जो प्रत्यक्षका उदाहरण दिया गया है (कानसे सुननेका) यह शब्दमें आ जाता है।

टिप्पणी—६ (क) ***'जासु कथा कुंभज रिषि गाई'*** यथा—***'राम कथा मुनिबर्ज बखानी'।*** ***'भगति जासु……'*** यथा—***'रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥'*** (ख) ***'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा'*** इति। ***'रघुबीरा'*** से दाशरथी रामको अपना इष्टदेव और ***'सेवहिं जाहि सदा मुनिधीरा'*** से मुनियोंके इष्टदेव जनाया। इष्टहीकी सेवा सदा की जाती है। मुनिसे मननशील और धीरसे इन्द्रियजित जनाया; यथा—***'ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किए'*** अर्थात् विकारके हेतुओंके रहते हुए भी जिनके मनमें विकार उत्पन्न न हो, वे धीर हैं। पुनः, ***'मम इष्टदेव'*** से सूचित किया कि तुम पतिव्रता हो, चाहिये था कि यही भाव तुम्हारा भी इनमें होता। (यह ***'संकर जगत बंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा॥'*** का उत्तर है। (वि० त्रि०)

छंद—मुनि धीर योगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी।
अवतरेउ अपनें भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

सो०—लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहसि महेसु हरिमायाबलु जानि जिय॥ ५१॥

अर्थ—'मुनि, धीर, योगी और सिद्ध निरन्तर निर्मल मनसे जिनका ध्यान करते हैं। वेद, पुराण और तन्त्र 'नेति-नेति' कहकर जिनकी कीर्ति गाते हैं, वही सर्वव्यापक, अखिल भुवनों (समस्त ब्रह्माण्डों) के स्वामी, मायापति, सर्वथा स्वतन्त्र, नित्य, ब्रह्म श्रीराम अपने भक्तोंके लिये रघुकुलमणिरूपसे अवतरे हैं (प्रकट हुए हैं)।' यद्यपि शिवजीने बहुत बार समझाया तथापि उनका उपदेश सतीजीके हृदयमें न लगा। (प्रविष्ट न हुआ, न बैठा।) (तब) महादेवजी मनमें भगवान्‌की मायाका बल जानकर हँसकर बोले।

टिप्पणी—१ ***'मुनि धीर योगी सिद्ध संतत……'*** इति। (क) ***'बिमल मन जेहि ध्यावहीं'*** कहकर जनाया था कि ये विषयोंको त्यागकर सेवा करते हैं। विषयसे मन मलिन हो जाता है; यथा—***'काई बिषय मुकुर मन लागी', 'हृदय मलिन बिषय संग लागे'*** (विनय), इत्यादि। ☞(ख) मुनि, धीर, योगी और सिद्ध इन्हीं चारके मन निर्मल होते हैं क्योंकि मुनि सदा मनन करते हैं, धीर मनको वशमें किये रखते हैं, योगी चित्तकी वृत्तिको रोके रहते हैं और सिद्धोंको ज्ञान सिद्ध है—यही सब मनके निर्मल होनेके हेतु हैं। (ग) [मानसपत्रिकाकार लिखते हैं कि इस कथनसे शिवका आशय यह है कि 'तुम भी मनसे मनन करो, धैर्यसे विचार करो तो हमारी बात तुम्हारी समझमें आ जायगी। जिनका मुनि, धीर आदि निर्मल मनसे ध्यान करते हैं, उनमें विकार कैसे सम्भव हो सकते हैं ?' वि० त्रि० का मत

है कि मुनिसे ज्ञानमार्गी, धीरसे उपासनामार्गी, योगीसे योगमार्गी और सिद्धसे कर्ममार्गी, इस तरह चारों मार्गवालोंका ध्यान करना कहा।]

टिप्पणी—२ *'कहि नेति निगम पुरान आगम'''''* इति। (क)—*'न इति न इति'* कहकर गानेसे निरन्तर गाना सूचित किया। यथा—*'जेहि श्रुति निरंतर ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं।'*, **'वेदे रामायणे चैव हरिः सर्वत्र गीयते।'** (ख) ☞ यहाँतक तन, मन और वचनसे सेवा करनेवालोंका उदाहरण दिया। कोई मुनि और धीर शरीरसे सेवा करते हैं, यथा—*'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।'* और कोई मनसे सेवते हैं, यथा—*'मुनि धीर योगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।'* और कोई वचनसे, यथा—*'कहि नेति निगम'''''''*। तात्पर्य कि जिसकी जैसी और जहाँतक पहुँच है, वह उसी प्रकार सेवा करता है, पर *'निरंतर'* सेवामें है; यथा—*'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा'*, *'संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं'* और *'कहि नेति निगम'''''''गावहिं'*, *'नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान।'* (बा० १२) पुनः [(ग) *'कहि नेति'''''''* का भाव कि मेरी नहीं मानती हो तो न सही, वेदशास्त्रादिका प्रमाण मानो (मा० प०)। विशेष दोहा १२ में लिखा जा चुका है। (घ) *'मुनिधीर'''''''गावहीं'* यह सतीजीके *'भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहु प्रीति उर रहति न रोकी॥'* का उत्तर है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म'* इति। (क) सतीजीका सिद्धान्त है कि व्यापक ब्रह्म अवतार नहीं लेता। उसीपर कहते हैं कि *'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म' 'भुवन निकाय पति माया धनी'* हैं। श्रीरामजी साक्षात् व्यापक ब्रह्म हैं, साक्षात् ब्रह्मके अवतार हैं। ☞इस कथनसे *'हर अंतरजामी सब जाना'* यह वाक्य चरितार्थ हुआ। (ख) *'भुवन निकाय पति माया धनी'* अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डोंके तथा जो समस्त ब्रह्माण्डोंकी रचयित्री माया है उसके भी स्वामी हैं। अर्थात् कारण और कार्य दोनोंके स्वामी हैं। *'माया धनी'* कहकर जनाया कि ब्रह्मका अवतार मायाकी प्रेरणासे नहीं होता। ब्रह्म राम तो मायाके प्रेरक हैं, *'निज तंत्र'* हैं अर्थात् काल, कर्म, गुण और स्वभावके वश नहीं हैं। काल, कर्म, गुण और स्वभाव आदिके वश तो जीवोंका अवतार (जन्म) होता है; यथा—*'फिरत सदा मायाकर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा॥'* (उ०) इनका अवतार कर्मवश नहीं होता, यथा—*'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'* ये स्वतन्त्र हैं, अपनी इच्छासे अवतार लेते हैं, यथा—*'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।'* (कि० २६) (बैजनाथजी *'ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी'* का अर्थ यह करते हैं कि 'मायारचित जितने भुवन हैं उन सबोंमें जो व्यापक ब्रह्म है, जिससे सारा चराचर चैतन्य है और जितने विष्णु, महाविष्णु और नारायणादि सगुणरूप हैं, इन अगुण-सगुण दोनों रूपोंके तथा समस्त भुवनोंके और मायाके भी पति *'राम'* हैं। प्रभु राम सूर्यवत् हैं और व्यापक ब्रह्म उनका तेज है। विष्णु आदि यावत् रूप हैं वे प्रभुके अंशकला हैं। सतीजीके विचारमें अगुण और सगुणका माहात्म्य है। इसीपर शिवजी कहते हैं कि जिन रूपोंको तुम महत्त्व माने बैठी हो, उनके भी पति साकेतबिहारी श्रीरामरूप हैं।') (ग) *'भुवन निकाय पति माया धनी'* कहकर *'अवतरेउ अपने भगतहित'* कहनेका भाव कि मायाके बनाये हुए समस्त ब्रह्माण्डोंमें अपने भक्तोंका हित करनेके लिये अवतार लेते हैं। यथा—*'प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखौं बालबिनोद अपारा॥'* (उ० ८१) *'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥'* (सु०) *'सो केवल भगतन्ह हित लागी।'* (बा० १३। ५) *'भगति हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'* (उ० ७२) इत्यादि। अपने **भगत**=निजभक्त, सच्चे भक्त। यथा—*'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥'* (बा० १५०) *'तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।'* (७। ७४) इत्यादि। ☞यहाँ 'अपने' विशेषण देकर जनाया कि प्रभु संतसे इतना अपनपौ रखते हैं कि उनके निमित्त अवतार लेते हैं। (घ) *'निज तंत्र नित रघुकुलमनी'* इति। ['तंत्र' के दो अर्थ हैं—१-अधीन, वश। २-आनन्द या प्रसन्नता, (कृपा या इच्छा) **निज तंत्र**=स्वतंत्र एवं अपनी प्रसन्नता, कृपा या इच्छासे।—शेष भाव ऊपर (ख) में लिखे जा चुके हैं।] **नित**=नित्य। 'नित्य' का भाव कि इनका आविर्भाव और तिरोभाव, प्रकट होना और अन्तर्धान हो **जाना—दोनों** अपनी इच्छाके

अनुकूल होता है। *'रघुकुलमनी'* अर्थात् ये रघुकुलमणि हैं, रघुकुलमें अवतार लिया है। *'निज तंत्र' 'अवतरेउ'* और *'रघुकुलमनी'* दोनोंके साथ हैं।

नोट—१ सतीजीने दो सिद्धान्त किये थे। एक यह कि ये ब्रह्म नहीं हैं, इसका उत्तर *'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा'* से लेकर *'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म'* में दिया कि ये राम ब्रह्म हैं। दूसरे यह कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता। इसका उत्तर *'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म अवतरेउ अपने भगत……'* से दिया कि वह अवतार लेता है। अवतारका कारण और देश भी बताया।

नोट—२ *'अपने भगत हित'* कहकर यह अवतार *'निजभक्त'* श्रीमनुशतरूपाजीके हितार्थ लेना जनाया। मनुशतरूपाजी निज (अनन्य) भक्त हैं, यथा—*'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥'* (बा० १४५) उनके सामने जो श्रीसीतारामजी प्रकट हुए वे ही ब्रह्म हैं और वे ही वरदानानुसार उनके लिये प्रकट हुए हैं। यही बात आगे शिवजीने पार्वतीजीसे यों कही है—*'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा॥'* (बा० १४१) ये वही मनुजीको दिये वरके अनुसार अवतरे हैं, यह बात शिवजीके *'जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा।……'* (बा० १४१) इन वचनोंसे स्पष्ट है।

नोट—३ स्वामी श्रीरामदेवजी लिखते हैं कि इस छन्दमें व्यापक, ब्रह्म इत्यादि पदोंसे निर्गुण, निर्विकार, एक, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही संकेत है, जो मायाके द्वारा समस्त संसारमें बसा हुआ है। वही अपने भक्तोंके कल्याणके लिये सगुणरूपसे प्रकट होता है। इस कथनसे निर्गुण और सगुण ब्रह्मका अभेदान्वय किया गया है न कि भेदान्वय। (कल्याण १३। ११)

वि० त्रि०—यह छन्द २८ दलका कमल है। हरिगीतिका छन्द है।

टिप्पणी—४ *'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।'* इति। (क) *'लाग न उर उपदेसु'* यह बात भी अन्तर्यामी भगवान् शङ्कर जान गये। उपदेश न लगनेका स्वरूप यह है कि जो शिवजीने उपदेश किया कि 'मुनि, धीर, योगी और सिद्ध निर्मल मनसे जिसका ध्यान करते हैं, वेद, पुराण, शास्त्र जिसका यश गान करते हैं, जो हमारे इष्ट हैं, जिनका नाम हम जपते हैं, वही राम व्यापक ब्रह्म अपने भक्तोंके हितार्थ अवतरित हुए हैं।' यह बात सतीजीको न जँची, उनके मनमें न बैठी, इसीसे तो पार्वतीतनमें उन्होंने इसी बातका सन्देह कहकर प्रश्न किया है; यथा—*'प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहु ब्रह्म अनादी॥ सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥ राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥……जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥'* (बा० १०८-१०९) (ख) शिवजीका उपदेश *'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।'* से लेकर *'अवतरेउ अपने भगतहित……'* तक है। (ग) *'जदपि कहेउ सिव बार बहु'* इति। बड़े लोगोंकी रीति है कि (जीवके कल्याणार्थ वे उसे) समझानेके लिये बार-बार कहते हैं; यथा—*'तदपि कही गुर बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥'* (घ) [*'जदपि'* (यद्यपि) का भाव यह है कि एक तो शिवजी ऐसे जगद्गुरुका उपदेश और वह भी बार-बार! तब भी न समझ पड़ा, यह आश्चर्यकी बात है। यह भाव शिवजीके *'मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥'* आगेके इन वचनोंसे सिद्ध होता है। यहाँ 'विशेषोक्ति अलंकार' है—*विद्यमान कारण बन्यो तऊ न फल जहँ होइ'*। (अ० मं०)]

टिप्पणी—५ *'बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जियँ'* इति। (क) *'बोले बिहसि'* हँसकर बोलनेका भाव यह है कि साधारणतया उपदेश न माननेसे लोगोंको क्रोध हो आता है, पर शिवजीको इसपर क्रोध न हुआ। वे प्रसन्न हैं। प्रसन्नताका कारण *'हरिमाया बलु जानि जियँ'* है। अर्थात् भगवान्‌की मायाका बल जानकर वे सतीजीका इसमें कुछ दोष नहीं मानते, तब उनपर रुष्ट क्यों हों ? प्रभुकी मायाका ही बल है कि उसने हमारे बारम्बार समझानेपर भी हमारे उपदेशको उनके हृदयमें प्रविष्ट न होने दिया। उपदेश न लगनेमें उसीकी प्रेरणा है।

नोट—४ *'बिहसि'* इति। अथवा, मायाकी प्रबलता देखकर हँसे कि प्रभुकी माया ऐसी प्रबल है कि पतिव्रताशिरोमणि सतीने हमारा भी उपदेश न माना। यथा—*'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीन दयाला॥'* (१। १३२) (नारदजीपर प्रभाव देखकर हँसे थे।) प्रभुकी माया अति प्रबल है। यथा—*'सुनु खग प्रबल राम कै माया। जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥'* (उ० ५९) *'प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥'* (बा० ५६) ☞ उ० ५८ से ६२ तक मायाका प्राबल्य वर्णित है। बैजनाथजी हँसनेका भाव यह लिखते हैं कि 'हमारे समझाये नहीं समझती हो तो इसका फल भोगो।'

नोट—५ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि *'बिहसि'* शब्दमें उपहासभाव और परिहासभाव दोनों ही हैं। उपहासभाव यह है कि हरिमायाके सामने अपनी हार मानते हैं कि हमारा समझाना भी न सफल हुआ। और, परिहास (विनोद) भाव सतीके साथ है, जैसे जब हमारा मित्र नहीं मानता तो हम कहते हैं—अच्छा, जाकर परीक्षा लो, खूब छकोगे। हाँ! शिवजीकी उदारताका भी यह द्योतक है कि क्रोध नहीं किया।

जौ तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा* लेहू॥ १॥
तब लगि बैठ अहौं† बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥ २॥
जैसें जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी॥ ३॥

अर्थ—जो तुम्हारे मनमें अत्यन्त सन्देह है तो जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेती॥ १॥ जबतक तुम मेरे पास (लौटकर) आओगी तबतक मैं वटवृक्षकी छायामें बैठा हूँ॥ २॥ जिस प्रकार तुम्हारा भारी मोह और भ्रम दूर हो, विवेकसे सोच-समझकर तुम वही उपाय करना॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'जौ तुम्हरें मन अति संदेहू।'* इति। (क) पूर्व कह आये हैं कि *'उर उपजा संदेहु बिसेषी।'* इसीसे यहाँ कहते हैं—*'जौ तुम्हरें मन अति संदेहू'* अर्थात्। *'अति संदेह'* है, तभी तो हमारे समझानेसे भी नहीं जाता। *'अति संदेह'* बिना परीक्षाके नहीं जाता, अतः कहते हैं *'तौ……'*। (ख) *'तौ किन जाइ परीछा लेहू।'* अर्थात् हमारे कहनेसे नहीं जाता तो परीक्षा लेकर उसे दूर कर लेना चाहिये। *'किन लेहू'* का भाव कि वे तो अभी विद्यमान हैं, समीप ही हैं, तुरत परीक्षा लेकर सन्देह मिटा लेना चाहिये, ऐसा करनेमें विलम्ब करना उचित नहीं, शीघ्र जाकर परीक्षा ले लो कि ये ब्रह्म ही हैं या नहीं। **किन**=क्यों नहीं। यथा—*'बेगि करहु किन आँखिन ओटा।'* [महेशजीकी ईशन शक्ति भी सतीजीके संशयोंका निरास करनेमें असमर्थ ठहरी; अतः *'अति संदेह'* कहा। शिवजी समझ गये कि इन सन्देहोंका निरास केवल श्रीरामकृपासे ही होगा। इस *'अति संदेह'* को ही आगे *'असंका'* (अतिशंका) कहेंगे। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं।……'* इति। (क) [वटवृक्षकी छायामें बैठनेको कहा, क्योंकि एक तो वटवृक्ष आपको प्रिय है, यथा—*'तेहि गिरिपर बट बिटप बिसाला।……सिव बिश्राम बिटप श्रुति गावा।'* (बा० १०६) दूसरे, वट आपका स्वरूप कहा गया है, यथा—*'प्राकृत बटबूट बसत पुरारी हैं।'* तीसरे (बैजनाथजी लिखते हैं कि फाल्गुन कृ० ९ से किञ्चित् घाम होने लगता है। उनके मतसे) सीताहरण फाल्गुन कृ० ९ के पश्चात् हुआ। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि चैत-वैशाखके दिन हैं। घाम कुछ तेज होने लगता है। और वटछाया गर्मीमें शीतल और शीतकालमें गर्म होती है। यथा—'**कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टिकागृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥**' अतः उसके नीचे ठहरनेको कहा। चौथे, पासमें वटका ही वृक्ष होगा, इससे साधारणतः यह बात कही।] (ख) *'बैठ अहौं……जब लगि तुम्ह ऐहहु'* इस कथनसे उनको पूरा अवकाश दिया। अर्थात् शीघ्रता न करना, सावधानीसे काम बनाकर, अच्छी तरह परीक्षा लेकर अपना सन्देह निवृत्त करके आना, चाहे जितना समय लगे इसकी चिन्ता न करना, मैं यहाँ तबतक बैठा रहूँगा जबतक तुम न आ जाओगी।

* परिछा—गौड़जी, ना० प्र०। परिच्छा—रा० प०। † रहौं—रा० प०, पं०।

टिप्पणी—३ *'जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।'''''* इति। (क) हरिमायाका बल 'प्रबल' है। इसीसे मायाकृत विकारोंको भी भारी कहते आ रहे हैं; यथा—*'सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥' 'अस संसय मन भएउ अपारा।'* तथा—*'जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।'*—सन्देह, संशय, मोह और भ्रम ये सब मायाकृत विकार हैं। (ख) पूर्व *'जौं तुम्हरें मन अति संदेहू'* और यहाँ *'मोह भ्रम भारी'* कहकर सूचित किया कि सामान्य मोह होता तो हमारे इतने ही उपदेशसे मिट जाता, भारी है इससे दूसरे शरीरमें भी साथ लगा रहेगा। पुनः भाव कि भारी है इसीसे यह बातोंसे न जायगा, परीक्षासे ही जायगा। (ग) *'करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी'* इति। ☞शिवजीने विवेकसे विचारकर यत्न करनेको कहा। यदि इस प्रकार प्रथम ही सावधान न कर दिया होता तो सतीजीको कुछ भी दोष न लग पाता। तब वे यह कह सकती थीं कि आपहीने तो मुझे परीक्षा लेनेके लिये भेजा था, अब हमारा त्याग क्यों करते हैं ? मेरा इसमें अपराध क्या ? अपराध केवल इतनेहीसे हुआ कि शिवजीने विवेकपूर्वक विचार करके परीक्षा लेनेको कहा था और इन्होंने मोहाविष्ट होनेसे अविवेकसे परीक्षा ली।

नोट—१ *'करेहु सो जतनु'* में ध्वनिसे यह अर्थ भी निकलता है कि सन्देह-निवारणार्थ कोई प्रयत्न उठा न रखना, सन्देह दूर करके आना। *'बिबेकु बिचारी'* में भाव यह भी है कि सहसा अविवेकसे कोई अनुचित काम न कर बैठना कि पछताना पड़े। *'बिबेकु बिचारी'* अर्थात् विवेकपूर्वक सोच लेना कि जो उपाय तुम करना चाहती हो वह उचित है या नहीं।

नोट—२ यहाँ लोग यह शङ्का कर बैठते हैं कि 'शिवजीने जान-बूझकर सतीजीको आपत्तिमें डाला, यह उचित नहीं जान पड़ता।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रवृत्तिमार्गमें व्यावहारिक देशमें तो ये वचन अनादरणीय हैं ठीक नहीं हैं। परन्तु निवृत्तिमार्ग अर्थात् पारमार्थिक देशमें यह भी एक उपदेश है। उन्होंने अच्छा ही किया, क्योंकि जीव जैसे भी भगवत्सम्मुख हो सके वैसा ही करना बड़ोंका कर्तव्य है। इसी विचारसे उन्होंने परीक्षा लेनेको भेजा।' (बै० मा० प०) ☞नाभाकृत भक्तमाल और उसकी टीका **'भक्तिरसबोधिनी'** में मदालसा महारानी और उनके पुत्र राजा अलर्ककी कथा है। माता जब वनको चली गयी तब अपने सुयोग्य विरक्त सब पुत्रोंसे कह दिया कि देखो तुम्हारा छोटा भाई भवसागरमें न पड़ जाय, जैसे हो सके उसको भी संसारसे विरक्त करा देना। भाइयोंके सदुपदेशको जब अलर्कने न माना तब उन्होंने अपने मामा काशीनरेशसे उसपर चढ़ाई करा उसका राज्य छिनवा दिया'''''' तब उसको उपदेश लगा और वह भी परम भक्त हो गया।

मनुष्य जब प्रत्यक्ष देख लेता है तब बोध शीघ्र हो जाता है। भुशुण्डीजीने भी प्रत्यक्ष सब देखा तब मोह मिटा और पक्का विश्वास हो गया। कहा भी है कि *'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'* श्रीरघुनाथजीमें विश्वास और प्रेम हो, इसीलिये शिवजीने उन्हें परीक्षा लेने भेजा।

यह भी कहा जा सकता है कि यदि हम यह मानते हैं कि शिवजी भावीको जानते थे तो उसका एक सीधा उत्तर यह है कि इस नाट्यमें एक पात्र (अभिनेता) होनेके कारण उनका उस लीलामें सम्मिलित और सहायक होना उचित ही है! यदि मानें कि वे भावी न जानते थे तब अवश्य यह कहना पड़ता है कि अभी संशयकी प्रारम्भिक अवस्था थी, कुछ काल समझानेपर जब न समझमें आता तब भले ही दण्डका उपाय सोचा जाता। इस समय सतीजीको प्रभुके निकट भेजनेसे कितने उपद्रव हुए। इष्टका अपमान हुआ, दक्ष और उसके यज्ञकी दुर्दशा हुई, सतीजी भस्म हुईं, इत्यादि। इससे यह ज्ञात होता है कि शङ्करजीने जो कुछ किया वह भगवत्-इच्छानुकूल किया। परन्तु हमलोगोंको ऐसी अवस्थामें बहुत सावधानीसे काम करना चाहिये।

प० प० प्र०—यहाँ शिवजीपर आक्षेप करना मोहका ही लक्षण है। अनुमान, शास्त्र और आप्तवाक्य प्रमाणोंसे जिनका समाधान नहीं होता उनको प्रत्यक्ष प्रमाणसे समाधान होना सहज सम्भव होता है। सतीजीके संशय प्रत्यक्षप्रमाणजनित थे, अतः हरिकृपासे प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे उनका संहार शक्य है, यह जानकर और सतीजीको सन्देहजनित दुःखोंसे शीघ्र छुड़ानेके सद्धेतुसे ही शिवजीने विनोदमें ही कहा कि *'तौ किन जाइ*

परीछा लेहू।' सतीजीने विनोदको ही प्रमाण मान लिया और अपने तर्कोंकी सत्यता सिद्ध करनेके लिये ही चल पड़ीं। उनका दृढ़ विश्वास है कि ये 'राम' केवल नृपसुत हैं, इसीसे विवेकपूर्वक विचार न कर मायासीता बन गयी। इसमें शिवजीका लेशमात्र दोष नहीं।

चलीं सती सिव आयसु पाई। करहिं* बिचारु करौं का भाई॥ ४॥

अर्थ—शिवजीकी अनुमति पाकर सतीजी चलीं। मनमें विचारती हैं कि भाई! मैं क्या करूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ शिवजीकी आज्ञा पाते ही सतीजी परीक्षा लेने चल पड़ीं। इससे पाया गया कि उनके हृदयमें परीक्षा लेनेकी इच्छा तो थी ही, आज्ञा पाते ही परीक्षा लेनेका उत्साह हुआ; क्योंकि उनके हृदयमें अति सन्देह है। [इससे यह भी जनाया कि शिवजीकी आज्ञा न होती तो कदापि न जातीं, क्योंकि वे सती अर्थात् पतिव्रता हैं। (मा० प०)]

टिप्पणी—२ *'करहिं बिचारु करौं का भाई।'* इति। (क) तात्पर्य कि कोई भी विचार मनमें नहीं आता। ☞जब शिवजीने आज्ञा दी थी कि विवेकसे विचारकर यत्न करना, तब सतीजीको पूछ लेना चाहिये था कि आप ही परीक्षाका जो उपाय बतावें वही मैं जाकर करूँ। यह पूछनेका ज्ञान न रहा, उन्होंने न पूछा। हरिमायाके वश हैं। अतः आज्ञा पाते ही तुरंत चल दीं। (ख) 'शङ्करजीकी आज्ञा है कि विचार करना, इसीसे *'करहिं बिचारु'* अर्थात् विचार करती हैं। ☞यहाँ *'बिचारु'* पर सतीका प्रसङ्ग छूटा। (ग) *'करौं का भाई'* इति। ☞*'भाई'* मनका सम्बोधन है। विचार करनेमें, वार्ता करनेमें मनको भाई सम्बोधन करना मुहावरा है। यथा—*'जग बहु नर सर सरि सम भाई।'* (बा० ८), *'होइहि जात गहरु मोहि भाई।'* (बा० १३२), *'तरुपल्लव महुँ रहा लुकाई। करहिं बिचारु करौं का भाई॥'* (सुं० ९), *'आन दंड कछु करिय गोसाईं॥ सबही कहा मंत्र भल भाई॥'* (सुं० २४) इत्यादि।

नोट—मानसपत्रिकाकार *'करौं का भाई'* का भाव यह लिखते हैं कि—*'का भाई'* अर्थात् श्रीरामजीकी मनभाई कौन-सी बात करूँ। सीताजीका रूप धरूँ, यह उनके मनको भावेगा। यह बात शिवजी जान गये, अतः अनुमान करने लगे।'—(परंतु शिवजीको *'का भाई'* यदि ऐसा भाव लें तो अधिक सङ्गत होगा, क्योंकि शिवजीने कहा ही था कि 'विवेकसे विचारकर' करना।)

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥ ५॥
मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥ ६॥

अर्थ—इधर (बटतले बैठे हुए) शिवजीने मनमें ऐसा अनुमान किया कि दक्षसुताका कल्याण नहीं है॥ ५॥ मेरे भी समझानेसे संदेह दूर नहीं हो रहे हैं। विधाता उलटे हैं, (अतः) कुशल नहीं है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'इहाँ संभु अस मन अनुमाना।'* इति। (क) ☞ *'इहाँ'*—पद देकर जनाया कि कुबुद्धिकी बात करनेवालेके साथ कविकी बुद्धि नहीं है, क्योंकि सतीका कल्याण नहीं है। कविकी बुद्धि शिवजीके साथ है, इसीसे *'इहाँ'*—पद दिया। अथवा, सतीका शिवजीके समीपसे चलना कहकर अब शिवजीका हाल कहते हैं। कविकी बुद्धि इस समय शिवसमीप ही है, अतः इस जगह 'उहाँ' कैसे कहें ? यदि सतीजीका श्रीराम-समीप पहुँचना कहकर शिवजीका हाल लिखते तो *'इहाँ'* न कहकर 'उहाँ' कहते। (ख) *'दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना'* इति। दक्षसुता कहनेका आशय यह है कि—शिवसम्बन्धीका अकल्याण असम्भव है और सतीका कल्याण नहीं है। अतः दक्षसम्बन्ध यहाँ दिया। अथवा, शङ्करजी सोचते हैं कि दक्ष अज्ञानी है, मुझमें श्रद्धा नहीं रखता, हमको नहीं मानता। उस दक्षका अंश सतीमें आ गया है, इसीसे यह हमारा कहा नहीं मानतीं; अतः इनका कल्याण नहीं है। कल्याण=भलाई।

नोट—१ अनुमान करनेमें शम्भु नाम दिया। आप कल्याणकर्ता तो जीवमात्रके हैं; यथा—*'बिनु संभु कृपा नहिं भो बिबेक।'* विनय।' और स्त्रीके लिये तो पति ही सर्वकल्याणका मूल है, इसीसे सतीके

* करइ—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। करहि—१६६१, १७०४।

कल्याणपर अब भी उनकी दृष्टि है। उसपर भी शम्भु ऐसे पतिके वचनका निरादर किया और कल्याणकर्ता शिवको छोड़ परीक्षा लेने गयीं, मानो कल्याणको खो बैठीं। *'दच्छसुता'*—(दोहा ५२। ५) देखिये।

टिप्पणी—२ *'मोरेहु कहें न संसय जाहीं।'''''''* इति। (क) *'मोरेहु'* का भाव कि सती हमको ईश्वर, जगद्वन्द्य जगदीश जानती हैं; यथा—*'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥'* दूसरे हम इनके पति हैं। पतिव्रता होकर भी हमारे वचनमें प्रीति नहीं है, इसीसे विधाता विपरीत हैं और विधाताके विपरीत होनेपर फिर भला भलाई कहाँ हो सकती है ? (ख) कोई किसीके भलेका उपदेश करे और वह न माने तो जानना चाहिये कि उसपर विधि विपरीत हैं। यथा—*'मंदोदरी हृदय कर चिंता। भएउ कंतपर बिधि बिपरीता॥'* (५। ३७) विधाताके विपरीत होनेपर ईश्वरका भी उपदेश नहीं लगता, जैसे दुर्योधनको व्यास और श्रीकृष्णजीका उपदेश न लगा। इस प्रकार *'मोरेहु कहें'* का भाव यह हुआ कि ईश्वर संशय नाश करनेकी अवधि है। मैं ईश्वर हूँ। (मेरे वचन मोहान्धकारको दूर करनेके लिये रविकिरण-समान हैं, यथा—*'सुनु गिरिराज कुमारि भ्रमतम रबिकर बचन मम।'* (१५५) सूर्यकिरणसे अन्धकार मिटता है यह विधि है, वैसे ही मेरे वचनसे मोह मिटता है, यह विधि है) मेरे भी उपदेशसे संशयका नाश न हुआ तब और किसके उपदेशसे नाश होगा ? अत: निश्चय है कि विधाता विपरीत हैं। (एवं यह बात विधि-विपरीत है।) (ग) संशय अपार है, इसीसे *'जाहीं'* बहुवचन क्रिया दी।

श्रीबैजनाथजी—*'नहिं कल्याना', 'भलाई नाहीं'* इति। निश्छल जीव जब प्रभुके सम्मुख होता है तो उसका उसी देहसे कल्याण होता है। सतीजी छलसहित जाती हैं; इसलिये प्रभु उस छलमय देहको नाशकर तब दूसरी देहमें इनका कल्याण करेंगे। *'बिधि बिपरीत'* है अर्थात् कुभाग्य उदय हुआ है। अथवा, छलरूप 'विपरीत विधि' से प्रभुके सम्मुख गयी हैं, इससे देहमें भलाई नहीं है।

नोट—२ पं० रामकुमारजीने अपने एक पुराने खर्रेमें *'बिधि बिपरीत'* का भाव यह लिखा है कि—'विधि' अर्थात् शास्त्रोक्त विधान वा व्यवस्था तो यही थी कि सतीजी पतिकी आज्ञाका पालन करतीं, पतिके वचनपर विश्वास करतीं, सो न करके वे उसके प्रतिकूल कर रही हैं। अत: भला न होगा। वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'उत्तम शिक्षाको मान लेना 'उत्तम (कल्याणकारी) विधि' है और उसपर ध्यान न देना, उसे न मानना 'विपरीत विधि' है। जिसकी आयु क्षीण हो जाती है, उसे हितकारी उपदेश नहीं लगते। यथा—**'दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्। न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुष:॥'** (सु० र० भा०) सतीजीकी आयु अब क्षीणवत् हो गयी है; इसीसे *'मोरेहु कहें न संसय जाहीं'* यह 'विपरीत विधि' हुई। पति-परित्यक्ता और अपमानिता होकर मरना *'भलाई नाहीं'* है, यद्यपि सतीजी अभी सत्तासी हजार वर्ष जीवेंगी, किन्तु वह भी तो उनके लिये गतायुवत् ही है।' और प० प० प्र० का मत है कि 'माया-मोह-विनाशार्थ श्रीरामकी शरण लेना अनुकूल विधि है। प्रभुकी परीक्षा लेनेके लिये उनके सम्मुख जाना 'विपरीत विधि' है।' इसी प्रकार एक भाव यह भी हो सकता है कि 'विपरीत विधि' से अर्थात् यदि यह वहाँ जाकर कोई विपरीत बात करें तो भलाई नहीं। यह भाव शिवजीके *'लीन्हि परीच्छा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात॥'* (५५) से भी सूचित होती है—परंतु मेरी समझमें इन सबोंमें खींच-तान ही है।

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ ७॥
अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥ ८॥

अर्थ—होगा तो वही जो श्रीरामजीने रच रखा है। तर्क करके शाखा-प्रशाखा कौन बढ़ावे ?॥ ७॥ ऐसा कहकर वे हरिका नाम जपने लगे। (उधर) सतीजी वहाँ गयीं जहाँ सुखके धाम प्रभु (श्रीरामजी) थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'''''''''* इति। इस कथनसे स्पष्ट है कि शिवजी भी यह नहीं जानते कि श्रीरामजीने क्या विचारा है, इसीसे वे संदिग्ध वचन कह रहे हैं। शिवजी सर्वज्ञ हैं, सतीजीके हृदयकी सब बात जान गये, पर यह न जान पाये कि प्रभुने सतीजीके लिये क्या रचना

रच रखी है। यदि वे जानते कि सती सीताजीका रूप धरेंगी तो वे प्रथम ही मना कर देते कि ऐसा न करना, नहीं तो हम तुमको त्याग देंगे। श्रीसीताजीका रूप धारण करनेसे शिवजीको बड़ा दुःख हुआ। यथा—*'सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा॥'* यदि वे जानते तो भारी विषादकी बात ही क्यों होने देते?

टिप्पणी—२ *'को करि तर्क बढ़ावै साखा।'* इति। भाव कि तर्क करके शाखा बढ़ानेमें काल व्यर्थ व्यतीत हो रहा है। यही बात आगे कहते हैं—*'अस कहि लगे जपन हरिनामा।'* पूर्व कह आये हैं कि *'इहाँ संभु अस मन अनुमाना'* और यहाँ कहते हैं कि *'को करि तर्क बढ़ावै साखा।'* इससे पाया गया कि 'मनमें अनुमान करना' ही 'तर्क करना' है। तर्क-पर-तर्क होना यही शाखा बढ़ाना है (**'साखा'**=बुद्धिके विचारोंका विस्तार)।

नोट—१ *'को करि तर्क बढ़ावै साखा।'* इति। अर्थात् एक बार सोचेंगे कि ऐसा होगा, फिर उसपर तर्क करेंगे कि ऐसा है तो इसका फल यह होगा और ऐसा होगा तो उसपर यह होगा, इत्यादि। ज्यों-ज्यों उसपर विचार करेंगे, तर्क-पर-तर्क बढ़ता ही जायगा, मनकी वृत्ति सोचमें ही डूब जायगी, कुछ लाभ न होगा। ☞यहाँ भगवद्भक्तोंकी रहनिरीति दिखाते हैं कि जब उनको कोई असमंजस आ पड़ता है तब वे तर्क-वितर्कमें न पड़कर प्रभुहीपर उसका भार छोड़ देते हैं और प्रभुकी इच्छाको ही मुख्य मानते हैं। यथा *'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान। भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥'* (बा० १२७), *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'*, *'बोले बिहसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥'* (१। १२४) तथा *'राम रजाइ सीस सबही के।'* (अ० २५४) तर्क-वितर्कमें पड़नेसे अपार संशयोंके उत्पन्न होनेसे भगवत्-स्मरणमें बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः ऐसा विचारकर वे भजनमें तत्पर हो जाते हैं। यही बात शिवजीने की। तर्क-वितर्क छोड़ नाम जपने लगे। ऐसे अवसरमें उच्च स्वरसे राम-नाम रटनेसे शान्ति प्राप्त होती है।

नोट—२ शिवजीके *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'*, *'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥'*, *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'*, *'हरि इच्छा भावी बलवाना'* इन वाक्यों तथा भुशुण्डिजीके *'नट मर्कट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥'* इस वाक्यका आधार लेकर कोई-कोई कहते हैं कि तब तो हमें कुछ कर्तव्य न करके चुपचाप बैठ जाना चाहिये। पुरुषार्थ करके पाप-पुण्यके चक्करमें पड़नेका प्रयोजन ही क्या?

इस शङ्काका समाधान हमने प्रसङ्ग पाकर अन्यत्र किया है। हम यहाँ बाबा जयरामदासजीकृत समाधान उद्धृत करते हैं जो उन्होंने किसी जिज्ञासुकी लगभग ऐसी ही शङ्कापर किया है।

शङ्का—उपर्युक्त वचनोंके आधारपर बैठ रहना भी कैसे ठीक है, जब कि लक्ष्मणजी *'नाथ दैव कर कवन भरोसा'* तथा *'दैव दैव आलसी पुकारा'* कहकर उपर्युक्त वचनोंका खण्डन कर देते हैं।

समाधान—'शङ्करजीका *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'*......' यह वचन जीवमात्रके लिये नहीं है, बल्कि केवल सतीके सम्बन्धमें है। इसके अतिरिक्त यह वचन उस स्थितिमें उनके मुखसे निकला है जब उन्हें यह अनुभव हो चुका है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने सतीके साथ जो लीला रच रखी है, उसका कोई खास उद्देश्य है और वह होकर ही रहेगी। इसलिये शङ्करजीके इस वाक्यको जीवमात्रपर घटाना ठीक नहीं। वैसे तो और भी भगवद्भक्त जो निश्चितरूपसे प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं, ऐसा कह सकते हैं और उनका कहना अनुचित न होगा। क्योंकि प्रारब्धका भोग अटल और अवश्यम्भावी होता है। परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि प्रारब्धपर निर्भर रहकर और कुछ किया ही न जाय। जो भगवद्भक्त प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं वे भी कर्तव्य कर्म (भजन-ध्यानादि परमार्थ-साधन) तो करते ही रहते हैं, अतः प्रारब्धपर निर्भर रहनेवालोंको भी अपना कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिये और प्रारब्धभोगोंको अवश्यम्भावी समझकर अनासक्तभावसे भोगना चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे श्रीशङ्करजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंमें कोई

पारस्परिक विरोध नहीं प्रतीत होता। एकका वचन प्रारब्ध कर्मके सम्बन्धमें है और दूसरेका क्रियमाण कर्मके सम्बन्धमें। श्रीलक्ष्मणजीने समुद्रपार होनारूप कर्तव्य कर्मके उपस्थित होते ही अपने उपर्युक्त दोनों वचनोंका प्रयोग किया है।

'नट मर्कट इव' और *'उमा दारु जोषित की नाईं'* ये दोनों चौपाइयाँ अपने-अपने प्रसङ्गमें ईश्वरके उस स्वरूपके प्रमाणमें आयी हैं जो अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीरामद्वारा कथित हुआ है। वहाँ भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे ब्रह्मका निरूपण इस प्रकार किया है—*'माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव। बंधमोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥'* अर्थात् ईश्वर, जीव और माया—इन तीनों तत्त्वोंमें ईश्वर इसीलिये सर्वपर हैं कि वे जीवको बन्धमोक्षके दाता तथा मायाके भी प्रेरक हैं। अस्तु; यहींपर उल्लिखित *'बंधमोच्छप्रद'* की पुष्टि *'नट मर्कट इव सबहि नचावत'* से तथा 'मायाप्रेरक' की पुष्टि *'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥'* द्वारा की गयी है।'—[विशेष—सुन्दरकाण्ड *'दैव दैव आलसी पुकारा'* (दोहा ५१।४) देखिये।]

टिप्पणी—३ *'अस कहि लगे जपन हरिनामा'* इति। (क) पूर्व कहा था कि *'इहाँ संभु अस मन अनुमाना'* और यहाँ लिखते हैं कि *'अस कहि'*। मनके अनुमानमें 'कहना' कैसे घटित होगा ? इस शङ्काका समाधान एक तो यह है कि प्रथम अनुमान किया, फिर उसको मुखसे कहा भी। दूसरे यह कि *'दच्छसुता कहँ नहिं कल्याना। मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥'* इतना मनका अनुमान है। और, *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहि साखा॥'* यह वचनसे कहा है। (ख) *'जपन लगे हरिनामा'* अर्थात् तर्क-वितर्क छोड़कर भगवन्नाम जपने लगे; क्योंकि हरिभजन ही मायासे बचनेका एकमात्र उपाय है। यथा *'हरिमायाकृत दोषगुन बिनु हरिभजन न जाहिं। भजिय रामु सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं॥'* (उ० १०४)। क्लेशहरणके सम्बन्धसे 'हरि' शब्द दिया। **'क्लेशं हरतीति हरिः।'** 'हरि-हरि' जपने लगे, ऐसा भी अर्थ हो सकता है; पर तुलसीदासजीके मतानुसार शिवजी सदा 'राम-राम' जपते हैं, यथा—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥'* (१।१०८)। अतः, **'रामाख्यमीशं हरिम्'** के अनुसार 'राम' नाम जपने लगे; यही अर्थ ठीक है। (ग) *'जपन लगे'* से सूचित होता है कि माला हाथमें है, नहीं तो कहते कि स्मरण करने लगे; यथा *'राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥'* (बा० ६०)

नोट—३ इष्टके ध्यानपूर्वक जिह्वासे उच्चारणको जप कहते हैं और केवल मनसे रूप और नामकी स्मृतिको स्मरण कहते हैं। जब मनमें तर्क-वितर्क उठते हैं तब जोर-जोरसे नामोच्चारण करनेसे शान्ति प्राप्त होती है—यह साधारण अनुभवकी बात है।

टिप्पणी—४ *'गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा'* इति। (क) सतीजी श्रीरामजीको असमर्थ और दुःखी समझती हैं; इसीसे वक्ता यहाँ *'प्रभु सुखधामा'* कहकर बताते हैं कि जिनको वे शोकधाम समझकर परीक्षा लेने गयी हैं, उनमें दुःख कहाँ ? वे तो हर्षशोकशून्य शुद्ध आनन्दघन हैं, पूर्णकाम हैं, मनुष्यचरित कर रहे हैं। यथा—*'पूरनकाम राम सुखरासी। मनुजचरित कर अज अबिनासी॥'* (३।३०) (ख) ['प्रभु' और 'सुखधाम' शब्द परीक्षा-प्रसङ्गके बीज हैं। इस प्रसङ्गसे श्रीरामजीकी प्रभुता इनके हृदयमें जम जायेगी और प्रभुत्वसे ही सुखधाम होनेका भी ज्ञान हो जायगा।]

दो०—पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप॥५२॥

अर्थ—बारम्बार हृदयमें विचारकर श्रीसीताजीका रूप धरकर वे उस मार्गमें आगे होकर चलीं जिसमें *'नरभूप'* राजा रामचन्द्रजी आ रहे थे॥५२॥

टिप्पणी—१ *'पुनि पुनि हृदय बिचारु करि'* इति। सतीजीका प्रसङ्ग *'करहिं बिचारु'* अर्थात् विचारपर

छोड़ा था, अब पुनः प्रसंग वहींसे उठाते हैं कि सतीजी विचारती रहीं पर कोई विचार हृदयमें आता नहीं; अतः पुनः-पुनः विचार करना पड़ा। 'बारम्बार हृदयमें विचारकर सीताका रूप धरा' इस कथनसे पाया गया कि उन्होंने खूब अच्छी तरह विचारकर यह निश्चय किया कि इस उपायसे परीक्षा हो जायगी। वे श्रीरामजीको 'अज्ञ' समझती हैं। वे पूर्व ही निश्चय कर चुकी हैं कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता और विष्णु जो अवतार लेते हैं वे सर्वज्ञ हैं, वे अज्ञकी तरह स्त्रीको न खोजेंगे—इसीसे उन्होंने सीतारूप धारण किया कि यदि ये विष्णु हैं तो जान जायँगे कि ये सती हैं, इन्होंने सीतारूप धारण किया है और यदि नर हैं तो न जान पायेंगे।

नोट—१ ***'पुनि पुनि बिचारु करि'*** के और भाव—(क) अर्थात् परीक्षाके अनेक उपाय एक-एक करके सोचती-विचारती गयीं तब यही निश्चय किया कि इस समय ये राजकुमार श्रीसीतावियोगविरहसे व्याकुल हैं, इसलिये सीतारूप धारणकर इनको मिल जानेसे तुरत ही सहजमें परीक्षा हो जायगी। क्योंकि यदि ये राजकुमार हैं तो हमें देखकर हर्षसे फूले न समायेंगे, वे यह न जान पायेंगे कि हम सती हैं। (और तब मैं अन्तर्धान हो जाऊँगी। वि० त्रि०) (ख)—शङ्करजीकी आज्ञा है कि ***'करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी'***, अतः ***'पुनि पुनि बिचारु'*** करना दिखाया। (ग) 'पं० रामकुमारजीके एक पुराने खर्रेमें यह भाव लिखा है कि पुनः-पुनः विचार करनेका आशय यह है कि सतीजीको श्रीसीतारूप धारण करनेमें असमञ्जस हो रहा है, पर परीक्षाका कोई और उपाय न देखा, तब सीतारूप धारण किया।' पर यह भाव पूर्वापरसे सङ्गत नहीं है। इसीसे उन्होंने पुनर्विचारपर फिर इसे नहीं रखा।

नोट—२ यदि सतीजी जानतीं कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं तो वे कभी सीतारूप न धारण करतीं; पर वे तो उनको प्राकृत राजकुमार ही निश्चय किये हुए हैं, अतः उनकी स्त्रीका रूप धरा।

टिप्पणी—२ ***'आगे होइ चलि पंथ तेहिं'*** इससे स्पष्ट है कि शिवजी दूसरे मार्गमें थे। आगे होकर चलनेका भाव कि यदि मैं पीछे रहूँगी तो राजकुमारोंको संदेह होगा कि ये सीता नहीं हैं, हम तो पीछे सब तिल-तिल जगह खोज आये, अब ये कहाँसे आ गयीं। आगे होकर चलनेमें सन्देह न होगा, क्योंकि आगे अभी खोजना बाकी है और श्रीराम-लक्ष्मणजी अभी आश्रमसे बहुत दूर नहीं हैं, इसीसे दाहिने-बायेंसे भी न चलीं; क्योंकि वह सब दिशाएँ भी ढूँढ़ चुके थे, तुरन्त जान जाते कि कोई मायावी है। (पं० रा० कु०, शीलावृत्ति) अतः जिस ओर राहमें श्रीरामजी आ रहे हैं, उसी मार्गमें आगे होकर इनकी ओर इनके सम्मुख चलने लगीं।

टिप्पणी—३ ***'आवत नरभूप'*** इति। अर्थात् प्राकृत नरकी तरह स्त्रीवियोगविरहसे व्याकुल वनमें खोजते हुए अपने ऐश्वर्यको छिपाये हुए चले आ रहे हैं; यथा— ***'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥'*** (१।४९)

नोट—३ (क) ***'नर इव रघुराई। खोजत·······'*** पर प्रसङ्ग छोड़ा था। अब ***'नरभूप'*** कहकर वहींसे प्रसङ्गका सम्बन्ध मिलाया। बीचमें शिवजी और सतीजीका हाल कहने लगे थे। (ख) श्रीरामजीको ठगनेके लिये अपना रूप छिपाना 'युक्ति अलंकार' है। जहाँ कोई कर्म क्रियाद्वारा छिपाया जाता है, वहाँ यह अलंकार होता है। यथा—***'मर्म छिपावन हेतु वा मर्म जनावन हेतु। करै क्रिया कछु युक्ति तेहि भाषत सुकवि सचेत॥'*** (अ० मं०) (ग) ☞यहाँ यह भी दिखाया है कि पतिकी आज्ञाके उल्लङ्घन करनेका परिणाम यह हुआ कि विचार भी कुविचार हो गया।

नोट—४ पाठान्तरपर विचार—किसी-किसी पुस्तकमें ***'नरभूप'*** के बदले ***'सुरभूप'*** पाठ मिलता है। बाबा हरीदासजी ***'सुरभूप'*** का भाव यह लिखते हैं कि 'सतीजी श्रीरामजीको भुलावेमें डालनेके लिये बिना हेरी हुई मार्गसे चलीं, पर वे यह नहीं जानतीं कि ये ***'सुरभूप'*** हैं, अन्तर्यामियोंके भी राजा हैं। सुर अन्तर्यामी होते हैं।' ***'नरभूप'*** पाठ प्राचीनतम है और संगत भी है। सतीजी इन्हें प्राकृत समझे हुए हैं, यथा—***'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा'***, तभी तो परीक्षा लेने गयीं। नर जानकर ही परीक्षा लेने और ठगनेका विचार ठाना है, नहीं तो सीतावेष क्यों बनातीं ?

लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भए भ्रम हृदय बिसेषा॥ १॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥ २॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने उमा (सती) का बनावटी वेष देखा। वे चकित हो गये, हृदयमें विशेष भ्रम हुआ॥ १॥ वे कुछ कह नहीं सकते। (क्योंकि वे) अत्यन्त गम्भीर हैं, प्रभुका प्रभाव जानते हैं और मतिधीर हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'लछिमन दीख उमाकृत बेषा'* इति। (क) *'उमाकृत बेषा'*—सतीजीने अपनेको छिपाया, वैसे ही ग्रन्थकार भी यहाँ उनको अपने अक्षरोंसे छिपा रहे हैं। इसीसे *'सतीकृत बेषा'* न कहकर *'उमाकृत बेषा'* लिखते हैं। लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ, अतः यहाँ *'उमा'* कहा। श्रीरामजीको भ्रम नहीं है, अतएव कविने वहाँ नाम नहीं छिपाया, *'सती'* ही नाम दिया; यथा—*'सती कपट जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥'* जहाँ भ्रम है वहाँ शब्द भी भ्रमात्मक है और जहाँ भ्रम नहीं है, वहाँ शब्द भी स्पष्ट है। (ख) प्रथम लक्ष्मणजीका देखना कहा—यह सूचीकटाहन्यायसे अथवा, लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी सेवामें सावधान हैं, वे सर्वत्र दृष्टि रखते हैं; इसीसे उन्होंने प्रथम देखा, पीछे श्रीरामजीने। (ग) *'उमाकृत बेषा'* कहकर जनाया कि उमा सीताजीका रूप धरे हुए हैं; इससे उमाका स्वरूप नहीं है और न साक्षात् सीता हैं। इसीसे यहाँ न *'उमा'* कहा न *'सीता'*; किन्तु *'उमाकृत बेष'* कहा। (घ) ☞'उमा' नाम यहाँ देकर वक्ता स्पष्ट कर रहे हैं कि देवताओंके सभी अवतारोंमें सभी नाम सिद्ध रहते हैं। दक्ष प्रजापतिकी कन्या होनेपर भी उनके 'सती', 'भवानी', और 'उमा' नाम कहे गये। यथा—*'संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी॥'* तथा यहाँ *'लछिमन दीख उमाकृत बेषा'* और हिमाचलराजके यहाँ जन्म लेनेपर भी ये सब नाम थे। यथा—*'नाम उमा अंबिका भवानी।'* तथा *'धन्य सती पावनि मति तोरी।'* ☞(पुनः, उमा, अम्बिका और भवानी आदि नाम शिवजीके सम्बन्धसे हैं, दक्ष या हिमाचलके यहाँ जन्म लेनेसे नहीं। सती=पतिव्रता।) (ङ) *'उमा'* कहनेका भाव यह है कि उत्कृष्ट मायाका किया हुआ वेष लक्ष्मणजीने देखा, इसीसे उन्हें विशेष भ्रम हुआ। अन्य रूपमें अन्यरूपका भास होना 'भ्रम' है। सीताका रूप धरनेका विचार करना 'तर्क' है, भ्रम नहीं है। [उमाकृत=उ (वह)+मा (सतीजीका वा सीताजीका-सा) कृत (किया हुआ)।]

☞टिप्पणी—२ सतीजीके कपटमें लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ, श्रीरामजीको भ्रम न हुआ। इसी तरह रावणकी मायामें लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ, श्रीरामजीको नहीं हुआ। यथा—*'तब रावन माया बिस्तारी॥ सो माया रघुबीरहिं बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥ देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसलधनी॥'* (लं० ८८); तब भगवतीकी मायामें भ्रम होना क्योंकर असम्भव है ? इसी तरह भरतजीके विषयमें श्रीरामजीको भ्रम न हुआ, पर लक्ष्मणजीको हुआ। यथा—*'कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी।'...... आए करै अकंटक राजू।'* (२। २२८) (लक्ष्मणवाक्य) तथा *'भरतहि होइ न राजमदु बिधिहरिहर पद पाइ।'* (२। २३१)। (श्रीरामवाक्य)

अथवा, सती महामाया हैं। उनकी मर्यादा रखनेके लिये श्रीरामजीकी प्रेरणासे लक्ष्मणजीको केवल ऊपरसे (दिखावमात्र) भ्रम हुआ, नहीं तो लक्ष्मणजी तो श्रीरामजीके स्वरूप ही हैं। फिर आगे कवि लिखते भी हैं कि *'सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना।'* अर्थात् श्रीरामजीके स्मरणसे अज्ञान मिट जाता है; तब लक्ष्मणजी तो श्रीरामजीका स्मरण दिन-रात (निरन्तर) करते हैं, उनका अज्ञान कैसे उचित होगा ?—[निरन्तर भजन करनेवाले श्रीशिव-नारदादि भी मायाके वश होते देखे जाते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं कि *'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥'* (३। ४३) इसलिये यही करना पड़ता है जो शिवजीने कहा है कि *'ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥'* (१। १२४)। देखिये न! कि लक्ष्मणजीने कहाँ तो निषादराजको परमार्थ-ज्ञानका उपदेश दिया और दूसरे ही दिन पिताको कटुवचन कहे और फिर कुछ ही

दिन पीछे भरतजीको मार डालनेको तैयार हो गये। अतः ऐसे महाभागवतोंके सम्बन्धमें यही मानना पड़ता है कि प्रभु जिससे जो स्वाँग जब कराना चाहते हैं उसीके अनुकूल वह करता है। ऐसी दशामें यदि उन्होंने सतीजीको न पहचाना हो तो कोई विशेष बात नहीं।]

नोट—१ *'लछिमन दीख'* इति। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनों ही साथ-साथ चले जा रहे हैं। दोनोंकी दृष्टि एक साथ सतीजीके कृत्रिम वेषपर पड़ी—यह न कहकर यहाँ लक्ष्मणजीकी ही दृष्टिका उनके वेषपर पड़ना लिखा। यह क्यों ? इसका कुछ कारण पं० रा० कु०जीकी उपर्युक्त टिप्पणीमें लिखा गया। लक्ष्मणजी सेवामें बड़े सावधान हैं। इसी तरह जब श्रीभरतजी चित्रकूटमें पहुँचकर प्रभुको प्रणाम करने लगे तब भी इन्हींकी दृष्टि प्रथम भरतजीपर पड़ी। दूसरे, लक्ष्मणजीका प्रथम देखना कहकर यह भी दिखाते हैं कि श्रीरामजी बहुत विह्वल हैं। तीसरे, 'विष्णुपुराणमें लिखा है कि चलते समय न ऊपर माथा उठाकर, न दूरकी वस्तु देखता हुआ और न तिरछे देखता हुआ चले। केवल चार हाथ पृथिवीको देखता हुआ चले इत्यादि अनेक दोष लिखे हैं। यथा—**'नोर्ध्वं न तिर्यग् दूरं वा निरीक्षन् पर्यटेद् बुधः। युगमात्रं महीपृष्ठं नरो गच्छेद् विलोकयन्॥'** (३।१२।३९) इसलिये श्रीरामजीने नहीं देखा और लक्ष्मणजी तो सेवक थे। उनका कर्तव्य ही यह था कि देखते चलें और उसकी सूचना दें।' अतः उनका प्रथम देखना युक्तियुक्त है। ऐसा भी कह सकते हैं कि दोनों खोजते चले जा रहे हैं, यह स्वयं कवि कह रहे हैं—*'खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई।'* इससे यह भी कहा नहीं जा सकता कि श्रीरामजी सब दिशाओंमें नहीं देख रहे हैं। हो सकता है कि उन्होंने भी देखा हो पर देखकर भी अनदेखे बन गये हों। इसीसे लक्ष्मणजीके विषयमें *'कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा॥'* ऐसा कविने कहा है। अर्थात् उन्होंने सोचा कि प्रभु तो देखकर भी कुछ बोलते नहीं, इससे जान पड़ता है कि ये श्रीजानकीजी नहीं हैं, इसमें भी कुछ विशेष मर्म है। प्रभु देखते हुए भी देखना जनाते नहीं, इसीसे कवि देखना नहीं लिखते।

नोट—२ *'दीख उमाकृत बेषा'* इति। पं० रा० कु० जीका मत टिप्पणीमें आ गया कि लक्ष्मणजीने उमाका मायाका किया हुआ वेष देखा, इसीसे उनको विशेष भ्रम हुआ, पं० शुकदेवलालजीका भी वही मत है। वे लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीने सतीजीकी बनावट कुछ नहीं जानी, क्योंकि जीव तो ध्यानावस्थामें ही सर्वज्ञ होता है। स्वतः सर्वज्ञ तो ईश्वर ही है। श्रीनंगे परमहंसजी (बाबा श्रीअवधविहारीदासजी) का भी यही मत है। वे लिखते हैं कि *'उमाकृत'* का अर्थ है 'पार्वतीका किया हुआ।' पार्वतीका किया हुआ वेष क्या है ? पार्वती सीताजी बन गयीं। इन सीताजीको देख लक्ष्मणजी चकित हुए, क्योंकि उनके (लक्ष्मणजीके) हृदयमें विशेषरूपसे भ्रम हो गया कि ये निश्चय ही सीताजी हैं। 'भ्रम'—शब्दका अर्थ है असत्में सत्का निश्चय हो जाना। जैसे रस्सीमें साँपका निश्चय हो जाना। फिर सतीका कपटवेष श्रीरामजीके लिये जानना लिखा है; यथा—*'सती कपटु जानेउ सुरस्वामी।'* इससे ध्वनित होता है कि लक्ष्मणजीने नहीं जाना। रामजीने क्यों जाना ? इसका कारण बताया कि वे सर्वदर्शी और सर्वान्तर्यामी हैं।'

दूसरे पक्षमें मानसमयङ्ककार, करुणासिन्धुजी, पंजाबीजी, वीरकविजी, बैजनाथजी, बाबा हरीदासजी और वे० भू० रामकुमारदासजी हैं। इन महानुभावोंका मत है कि 'लक्ष्मणजीकी दृष्टि दसों दिशाओंमें है। वे सजग रहते हैं। उन्होंने उनको सतीरूपमें शिवजीके साथ देखा, फिर अकेले आते देखा और सीतारूप धारण करते भी देखा। इसलिये इनको भारी संदेह हुआ कि यह क्या चरित्र इन्होंने किया।' बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको (सतीजीका सीतारूप धरना) प्रथम ही दिखा दिया। जिसमें सतीका कुछ भी करतब हमारे साथीपर भी न चल पाये।' पं० श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'उमा [=महादेवजीकी लक्ष्मी। —जिनको महादेवजीने मना किया था (कि अविवेकसे काम न करना)]। शब्दसे ही सिद्ध है कि लक्ष्मणजीने यह समझ लिया कि ये सीताजी नहीं हैं, किंतु सती हैं। लक्ष्मणजी जान गये क्योंकि वे तो *'सेष सहस्रसीस जग कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन॥'* हैं। और, वे० भू० जीका मत है कि 'लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अंशावतार क्षीराब्धिशायी श्रीनारायण हैं। ये भी सर्वज्ञ हैं। उनपर दैवीमायाका प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे उमाकृत वेषको देखकर न भूले, जान गये कि ये *'उमा'* हैं'—इत्यादि।

दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि 'यहाँ प्रभुका 'जनत्राता' गुण दिखाते हुए प्रभुका प्रभाव भी दर्शाया है कि सतीजीने जो माया रची, वह माया लक्ष्मणजीको ही न मोह सकी, तब भला प्रभुको क्या धोखा देगी।'

* चकित भए भ्रम हृदय बिसेषी *

भ्रमका आरोपण कोई तो लक्ष्मणजीमें करते हैं और कोई सतीजीमें। दोनों पक्षोंमें धुरन्धर-धुरन्धर विद्वान् हैं। सतीजीमें भ्रम आरोपण करनेवाले नारद-वचन ***'एक बार आवत सिवसंगा। देखेउ रघुकुल कमल पतंगा॥ भएउ मोहु सिव कहा न कीन्हा। भ्रमबस बेषु सीय कर लीन्हा॥'*** (बा० ९८) को प्रमाणमें पेश करते हैं और जो लक्ष्मणजीको भ्रम होना मानते हैं, वे ***'लछिमन दीख उमाकृत बेषा'*** से लेकर ***'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ'*** तक इसी प्रसङ्गके शब्दोंको प्रमाणमें देते हैं और रावणकी माया तथा भरतके सम्बन्धके विचारोंको उदाहरणमें पेश करते हैं।

लक्ष्मणजीको क्या भ्रम हुआ? वे क्यों चकित हुए? इसमें भी दो पक्ष होनेसे दो प्रकारके उत्तर भी हैं।

जो यह मानते हैं कि लक्ष्मणजीने पहचान लिया कि ये सती हैं, उनके मतानुसार लक्ष्मणजी इस भ्रममें पड़े हैं कि—

१ शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होकर भी इन्होंने यह वेष न जाने किस अभिप्रायसे धारण किया, कुछ समझमें नहीं आता। (पं० वै०)

२ उमाको कृत्रिमवेषमें देख अकेले वनमें घूमनेसे आश्चर्य है। भ्रम यह है कि किसी कारणसे शिवजीने इन्हें त्याग तो नहीं दिया या इनपर कोई भारी विपत्ति तो नहीं आ पड़ी। (वीरकवि)

३ चकित इससे हैं कि शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होकर भी इनका भ्रम और दुर्वासना न गयी। इन्होंने शिवजीका कहा न माना। जो मना किया वही इन्होंने किया। लक्ष्मणजी सोचते हैं कि सतीके हृदयमें यह क्या भ्रम छाया है। (मा० प०)

४ विशेष भ्रम हो रहा है कि मेरे समझनेमें तो कुछ चूक नहीं हो रही है या कोई ऐसी माया हो रही है जो मैं समझ नहीं रहा हूँ। (वि० त्रि०)

जो यह मानते हैं कि लक्ष्मणजीने यही जाना कि ये सीताजी ही हैं, उनके मतानुसार लक्ष्मणजी सोचते हैं कि—

१ यह कोई राक्षसी माया तो नहीं है—(रा० प०)।

२ श्रीजानकीजी यहाँ कहाँसे प्रकट हो गयीं। (रा० प०)

३ 'इस विशेष भ्रमसे चकित हो गये कि सीता-प्राप्ति तो कल्प-कल्पमें रावण-वधके पीछे होती है। इस कल्पमें अभी सीता-प्राप्तिका, स्वामी जानें, क्या कारण है? (शुकदेवलाल)

४ 'श्रीसीतारूपधारिणी कोई स्त्री विशेष विछोह-दुःखसे व्याकुल न होती हुई साधारण रीतिसे अकेली वनमें विचर रही है, यह क्या बात है? उसे तो स्वामीके दर्शनोंके लिये व्याकुल होना था…'। (वि० टी०)

५ लक्ष्मणजी भ्रमके कारण चकित हुए। यथा—***'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'*** (उ० ७९) (पं० रा० कु०। यह भुशुण्डिजीने अपने विषयमें कहा है)।

टिप्पणी—३ ***'कहि न सकत अति कछु गंभीरा'*** इति ***'कहि न सकत'*** लिखनेका भाव यह है कि यहाँ श्रीरामजीसे कहनेका प्रयोजन था कि सीताजी मिल गयीं; पर गम्भीरताके कारण न कह सके। सोचे कि 'यह भी कोई राक्षसी माया है। जैसे मारीचने छल किया वैसे ही यहाँ भी छल है, नहीं तो जानकीजीको लक्ष्मण भला अकेले क्यों छोड़कर चले जाने लगे? जो उमाकृत वेष उन्होंने देखा उसे वे यह कह नहीं सकते कि वह सीता हैं या नहीं। गम्भीर हैं, अतः उन्होंने उतावली न की, तुरंत कह न दिया। गम्भीर=गहरे, हृदयकी बात तुरत न कह डालनेवाले। **चकित**=आश्चर्ययुक्त।

टिप्पणी—४ ***'प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा'*** इति। कह न सकनेका एक हेतु पहले बताया कि ***'अति***

गंभीर' हैं। यहाँ *'अति गंभीर'* होनेका हेतु बताते हैं कि प्रभुके प्रभावको जानते हैं और मतिधीर हैं। 'प्रभुका प्रभाव जाननेके कारण मतिधीर हैं। अर्थात् उनकी बुद्धि स्थिर है, कभी डगने वा चलायमान होनेवाली नहीं। वे खूब समझते हैं कि जो कुछ भी असलियत (वास्तविकता) है वह अभी-अभी स्वामीके सामने खुली जाती है, मैं कुछ क्या कहूँ ? ☞ इसी तरह रावणने जब माया रची तब वही लोग धैर्य रख सके जो श्रीरामजीका प्रभाव जानते थे। अन्य सब लोग माया देखकर भाग गये। यथा—*'रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी॥ जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे।'* (लं० ९५)—[लक्ष्मणजी प्रभाव जानते हैं; यथा—*'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता। भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परै कि सोई॥'* (अरण्य० २८) वे जानते हैं कि प्रभु सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं, कुछ चरित करना चाहते हैं, भला उन्हें कौन छल सकता है ? प्रभुकी माया परम बलवती है, कोई दैवीमाया उनके सामने कब ठहर सकती है ? इत्यादि सब प्रभाव है। (करु०, पं०) पुनः—*'सपनें होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ।'* (अयो० ९२) से *'कहि नित नेति निरूपहिं बेदा। भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।'* (९३) तक श्रीरामजीका प्रभाव है जो लक्ष्मणजीने निषादराजसे वर्णन किया है।] लक्ष्मणजीको पूर्ण ज्ञान है कि किसीका कपट यहाँ न चलेगा, अतः *'मतिधीर'* कहा। सीताजीके मर्म वचनपर भी इनका मन चलायमान न हुआ। प्रभुकी प्रेरणासे ही चलायमान हुआ था; यथा—*'हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।'* (३।२८)

यहाँतक लक्ष्मणजीके मन, तन और वचन तीनोंका हाल कहा। मनमें भ्रम है, तनसे चकित हैं और वचनसे कुछ कह न सके।

नोट—२ भावार्थान्तर ये हैं—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'जो अपराधके प्रति विचारकर वचन बोले वह 'गम्भीर' है और जो अपराध देखकर भी कुछ न कहे वह *'अति गंभीर'* है। लक्ष्मणजी सतीजीका अपराध देखकर भी कुछ न बोले, इसीसे *'अति गंभीर'* विशेषण दिया'। २—न कह सकनेका कारण जो टिप्पणी—२ में लिखा गया वही मत बैजनाथजीका भी है। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि न कह सके क्योंकि 'अति गम्भीर हैं, प्रभुका प्रभाव जानते हैं और प्रभु-प्रभाव जाननेमें मतिधीर हैं। इसीसे यद्यपि विस्मयका समय है तो भी न कहा।' ३—वे० भू० जीका मत है कि 'अंशांशी विग्रहोंमें तात्त्विक भेद न होनेसे यहाँ कह न सकनेमें लक्ष्मणजीके भी चार विशेषण हैं 'अति गम्भीर, प्रभु, (चराचरके) प्रभावके ज्ञाता और मतिधीर—जैसे अगली दो अर्धालियोंमें श्रीरामजीके चार विशेषण—सुरस्वामी, सबदरसी, सब उर-अन्तर्यामी और सर्वज्ञ'—दिये हैं।'

सती कपटु जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥ ३॥
सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना। सोइ सरबज्ञ रामु भगवाना॥ ४॥

अर्थ—सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी, देवताओंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी सतीजीके कपटको जान गये॥ ३॥ जिनके स्मरणमात्रसे अज्ञान मिट जाता है, श्रीरामचन्द्रजी वही सर्वज्ञ भगवान् हैं॥ ४॥

नोट—१ *'सुरस्वामी, सबदरसी सब अंतरजामी'* इति। यहाँ उपर्युक्त विशेषण श्रीरघुनाथजीको दिये हैं। जब विरहमें विकल प्राकृत नरकी-सी लीला करते देखकर प्रभुको भ्रमसे राजकुमार समझकर सतीजी उनकी परीक्षा लेने चलीं तब *'नरभूप'* कहा था; यथा—*'आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप।'* और जब सतीका कपट जानना कहा तब सुरस्वामी इत्यादि कहा। तात्पर्य कि माधुर्यकी जगह माधुर्य कहा और ऐश्वर्यकी जगह ऐश्वर्य कहा। प्रभुके समीप पहुँचते ही उन्होंने सतीका कपट जान लिया। इस स्वतः-सर्वज्ञ गुणके विचारसे यहाँ *'सुरस्वामी'* विशेषण दिया, जिसका भाव यह है कि देवतालोग मनकी जान लेते हैं, उनसे कपट नहीं छिपता, तब ये तो देवताओंके भी स्वामी हैं, इन्होंने जान लिया तो आश्चर्य क्या ? *'सबदरसी'* (सर्वदर्शी) हैं अर्थात् बाहरकी, दूर और निकट रहनेवाली सभी वस्तुओंको जो त्रैलोक्यमात्रमें हैं, सहज ही एकरस देखते रहते हैं। 'अन्तर्यामी' हैं अर्थात् सबके हृदयके भीतरकी भी जानते हैं; यथा—*'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'* (अ० २५७) भाव यह है कि कपटको जाना, वेष जो बनाया उसे जाना और सतीके हृदयके भावको भी जान लिया। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी-१ *'सती कपट जानेउ'* इति। सतीका कपट जाननेमें इतने विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता थी? ये विशेषण इसलिये दिये गये कि एक तो सतीजी देवी हैं, शक्ति हैं, उनका कपट जान लेना साधारण बात नहीं है, पर ये देवमात्रके स्वामी हैं, स्वामीसे सेवकका कपट कब छिप सकता है ? यथा—*'चलै न चोरी चार की'* इति। (विनय०) अतः सुरस्वामी होनेसे जान गये। पुनः—*'सती कपट'* कहनेका भाव कि सतीजी कोई साधारण देवी नहीं हैं। वे शिवजीकी आद्याशक्ति हैं, *भव भव बिभव पराभव कारिनि'* हैं। उनका कपट, मनुष्यकी क्या कही जाय, देवताओंको भी जानना दुर्लभ है। भगवान् शङ्कर भी इस कपटको स्वतः न जान पाये, ध्यान करनेपर ही जान पाये (यह बात कविने आगे कही है, यथा—*'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥'* (बा० ५६) सो उनके भी कपटको श्रीरामजी स्वतः सब जानते हैं।) ☞ यही ब्रह्ममें और भगवत्कृपाप्राप्त सिद्धजीवोंमें भेद है। **कपट**=चरित। यथा—*'सती जो कीन्ह चरित सबु जाना।'* (बा० ५५)=कपटका आचरण।

टिप्पणी—२ *'सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना।'''''''* इति। (क) सतीजी श्रीरामजीको अज्ञानी समझे हुए हैं, यथा—*'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी', 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अग्यान रामपर आना॥'* (बा० ५४) उसीपर कहते हैं कि जिनके स्मरणमात्रसे दूसरेका अज्ञान मिट जाता है, उनमें अज्ञान कैसे सम्भव है ? वे सतीके कपटको कैसे न जान लेते ? अज्ञ समझकर सतीजीने सीतारूप धारण किया, यदि वे *'अज्ञ'* होते तो कपट न जान पाते, पर वे तो 'सर्वज्ञ' हैं। अर्थात् सब वस्तुको जानते हैं, सब कुछ जानते हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालकी बातोंको जानते हैं। *'राम'* हैं अर्थात् सबमें रमते हैं और 'भगवान्' हैं अर्थात् उनमें ज्ञान, वैराग्य आदि षडैश्वर्य हैं, वे विद्या और अविद्या दोनों मायाओंको जानते हैं। यथा—**'वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति।'** अर्थात् दोनों मायाओंके स्वामी हैं, महामायापति हैं। तब किसीकी माया इन्हें कैसे मोह सकती है ? तात्पर्य यह है कि ईश्वरमें अज्ञान नहीं है; इसीसे श्रीरामजी अपने स्वरूपसे सतीका कपट जान गये।

नोट—२ (क) *'सती कपट जानेउ।'* इस पूर्वार्धमें *'जानेउ'* क्रिया दी गयी है और इस क्रियाका अभिप्राय तीनों विशेष्यपदोंमें, जो उत्तरार्धमें दिये गये हैं—'सबदरसी, सब अंतरजामी और सर्वज्ञ', पाया जाता है। इसलिये यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' हुआ। कपट जाननेके लिये एक ही विशेषण पर्याप्त था तो भी इतने विशेषणोंको, इतने गुणोंको इसमें कारण दिखाया। अतः यहाँ 'द्वितीय समुच्चय अलंकार है।' (ख) पुनः, 'सबदरसी' से जनाया कि ये सब देख रहे हैं कि शिवजी वटतले बैठे हैं और वहींसे ये आयी हैं। अन्तर्यामी हैं, अतः जानते हैं कि शङ्करजीका उपदेश इनके गले नहीं उतरा, इसलिये परीक्षा लेनेके लिये सीता बनकर आयी हैं। (वि० त्रि०)

नोट—३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि शिवजीने पूर्व जो *'सोइ मम इष्टदेव'''''''' 'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म' '''''''''मायाधनी।'* कहा था, उसीको सचाई यहाँ इन विशेषणोंद्वारा दिखायी है।

नोट—४ 'सुरस्वामी, सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ' में जो भाव कहे गये, भगवती श्रुति भी ब्रह्मके लिये वैसा ही कहती है; यथा—**'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।'** इति (श्वेताश्वतर उ० ३।१९) अर्थात् वह सम्पूर्ण वेद्यवर्गको जानता है, किंतु उसे जाननेवाला कोई नहीं है। उसे सबका आदि, पूर्ण एवं महान् कहा गया है।

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥ ५॥
निज माया बलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि रामु मृदु बानी॥ ६॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कहते हैं कि) स्त्रीस्वभावका प्रभाव तो देखिये कि सतीजी वहाँ भी दुराव (छिपाव, कपट) करना चाहती हैं॥ ५॥ हृदयमें अपनी मायाके बलकी प्रशंसा करके श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराकर (मीठी) कोमल वाणी बोले॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ।'''''''* इति। (क) दुराव करना स्त्री-स्वभाव है। यथा *'सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ॥'* (अ० ४७) *'बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ॥'* (अ० १६२)। सतीजी श्रीरामजीको अज्ञानी, अल्पज्ञ और ऐश्वर्यहीन समझे हैं; इसीसे दुराव कर रही हैं—इसीपर कहते हैं कि *'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ।'* (ख) *'देखहु'* कहनेका भाव कि यह बात देखने ही योग्य है, क्योंकि जो बात तीनों कालोंमें सम्भव नहीं है, वही बात सतीजी स्त्रीस्वभाववश कर रही हैं। ☞स्मरण रहे कि शिवजीने '**नारि-स्वभाव**' को ही सती-मोह-प्रसंगमें प्रधान रखा है। यथा—*'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ॥'* (५१) [☞ वही बात अन्य वक्ता भी कह रहे हैं। वे भी शिवजीसे सहमत हैं। इसीसे वे कहते हैं—*'देखहु नारि सुभाव'''''''।'* ये याज्ञवल्क्यजीके वचन हैं।] (ग) *'तहहुँ'* 'वहाँ भी' कहनेका भाव कि दुराव वहाँ किया जाना चाहिये, जहाँ लोग न जानते हों। अर्थात् जहाँ अज्ञान हो पर सतीजी इसके विपरीत उससे दुराव करती हैं जिसके स्मरणमात्रसे दूसरेका अज्ञान दूर हो जाता है, जो सर्वज्ञ है, जो भगवान् है।

टिप्पणी—२ *'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ।'* इति। (क) नारि-स्वभावकी महिमा देखो। नारि-स्वभाव क्या है ? आठ अवगुणोंका होना नारि-स्वभाव है, यथा—*'नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥'* (लं० १६) विशेष (५१।६) में देखिये। आठ अवगुणोंमेंसे यहाँ 'अविवेक' अवगुणका ग्रहण है। अर्थात् इन्होंने विवेकसे काम न लिया। *'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ'* अर्थात् जहाँ दुराव न करना चाहिये, वहाँ भी दुराव किया—यही 'नारि-स्वभाव' है। (ख) *'सुभाव प्रभाऊ'* इति। अर्थात् स्त्रीस्वभाव ऐसा प्रबल है कि जो न करना चाहिये वह भी करा डालता है। ☞स्वभावकी प्रबलता देवी-देवताओंपर भी रहती है; यथा—*'काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत।'* इति। (विनय०) *'काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई ॥'* (बा० ७) (ग) 'यहाँ *'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ'* किस विचारसे कहा, क्योंकि सतीजी तो श्रीरामजीको सर्वज्ञ नहीं समझतीं ? यदि सर्वज्ञ समझकर दुराव करतीं तो स्वभावका प्रभाव कहना ठीक होता ?'—इसका उत्तर यह है कि शिवजीने उनको श्रीरामजीका स्वरूप समझा दिया था और यह भी कह दिया कि विवेकसे विचारकर यत्न करना—इन दोनों उपदेशोंमेंसे सतीजीने एकको भी न माना। सीतारूप धारण किया, यह अविवेककी बात की। और अविवेक 'स्त्रीस्वभाव' है।

नोट—१ *'नारि सुभाव प्रभाऊ'* कथनका भाव यह है कि स्त्री कितनी ही उच्च पदवीको क्यों न प्राप्त हो जावे, पर उसका स्वभाव नहीं छूटता। देखिये, सतीजी एक तो श्रीशिवजीकी पत्नी, दूसरे पतिव्रताशिरोमणि और भगवती, जगज्जननी, तो भी उनमें यह अज्ञान उपस्थित हो गया, उनका स्त्रीस्वभाव न छूटा, तब भला साधारण प्राकृत स्त्रियोंके विषयमें क्या कहा जाय ? सच है, स्वभाव सब गुणोंको दबाकर सबके ऊपर रहता है। '**अतीत्य हि गुणान् सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते।**'

वि० टी०—'ब्रह्मवैवर्तपुराण-गणेशखण्ड अध्याय ६ में लिखा है—'**दुर्निवार्यश्च सर्वेषां स्त्रीस्वभावश्च चापलः। दुस्त्याज्यं योगिभिः सिद्धैरस्माभिश्च तपस्विभिः॥**' अर्थात् स्त्रियोंका स्वभाव चञ्चल होता है, उससे किसीका बचाव नहीं होता। उसे योगी, सिद्ध तथा हम-सरीखे तपस्वी भी कठिनाईसे त्याग सकते हैं।'

नोट—२ स्वभावकी विचित्रता ही यह है कि सर्वगुणसम्पन्नकी बुद्धिको भी भय और भ्रममें डाल दे। सत्पुरुषोंमें तथा सती स्त्रियोंमें उनका स्वभाव विशेष साधनोंसे दबा रहता है, परंतु कभी-कभी विशेष कारणोंसे प्रकट हो जाता है। और अन्य पुरुषों और स्त्रियोंमें तो उनका स्वभाव सदा अभिव्यक्त रहता है। अन्य स्त्रियोंसे सती स्त्रियोंमें यही विशेषता है। पुराणोंमें भी इन दोषोंका वर्णन मिलता है; यथा—'**अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचत्वं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥**' इति। (देवीभागवत) संसारमें कोई भी निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि इसका कारण ही सदोष है। समस्त दोषोंसे निर्मुक्त एक परब्रह्म ही है। (स्वामी रामदेवजी मानसमणि) '**प्रभाऊ**'=प्रभाव=अन्तःकरणको किसी ओर प्रवृत्त कर देनेका गुण, सामर्थ्य, महिमा।

अर्थ—श्रीरामजीके मीठे कोमल और गूढ़ वचन सुनकर सतीजीको अत्यन्त संकोच हुआ। वे डरी हुई महादेवजीके पास चलीं। उनके हृदयमें भारी सोच है॥५३॥

नोट—श्रीरामचन्द्रजीने तीन बातें कहीं—१ मैं दाशरथी राम हूँ, आपको नमस्कार करता हूँ। २ वृषकेतु कहाँ हैं ? ३ आप वनमें अकेली कैसे फिर रही हैं ? कोमल तो सभी शब्द हैं, उसपर भी ये वचन हाथ जोड़कर प्रणाम करके बोले गये थे, इससे वे और भी कोमल हो गये। सभी वचन सुननेमें मृदु हैं, पर समझनेमें गूढ़ हैं। अर्थात् इनमें बहुत अभिप्राय गुप्त हैं, बहुत व्यंग्य भरा हुआ है। इन वचनोंके गूढ़ आशय देखने हैं।

(१) *'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू'* (अर्थात् हाथ जोड़ने और प्रणाम करने) के भाव ऊपर (५३।७) टिप्पणी—१ में आ चुके। *'पिता समेत लीन्ह निज नामू'* का गूढ़ भाव श्रीबैजनाथजी यह लिखते हैं कि 'इससे अपने स्वरूपका परिचय दिया। इस तरह कि अगस्त्यजीने जो मनुशतरूपाका वृत्तान्त तुमको सुनाया और मनुशतरूपाका दशरथ-कौसल्यारूपसे अवतरित होना कहा, हम उन्हीं दशरथजीके यहाँ पुत्ररूपसे अवतरे हैं, वही 'राम' हैं।' माधुर्यमें भाव यह है कि आप सीतारूपसे मेरे पास आयी हैं; यदि मैं आपको पकड़कर हृदयसे लगा लेता तो सतीत्व कहाँ रह जाता ? यदि समझती हो कि पकड़नेके पहले ही अन्तर्धान हो जायँगी तो ऐसी समझ भूल है, क्योंकि कथामें सुन चुकी हो कि कपटमृग मुझे छलने न पाया, उसका मृगचर्म मैं ले ही आया, वैसे ही मेरे आगेसे तुम अन्तर्धान नहीं हो सकती थी। (श्रीजानकीशरणजी)

(२) *'बृषकेतू'*—जिनकी ध्वजापर 'वृष' है। वृष=बैल=धर्म। **बृषकेतू**=धर्मकी ध्वजा। यह शिवजीका एक नाम है। *'कहाँ बृषकेतू'* यह कहकर प्रथम तो यह जनाया कि हम तुमको जानते हैं। दूसरे यह कि शिवजी धर्मध्वज हैं, सदा धर्मपर तत्पर रहते हैं, आपके पातिव्रत्यधर्मकी भी ध्वजा वे ही हैं, उनके वचनोंको न मानकर और उनसे अलग होकर आपने तो मानो अपने पातिव्रत्यधर्मको ही तिलाञ्जलि दे दी। आपका वह सतीत्वधर्म अब कहाँ गया ? (खर्रा) तीसरे यह कि 'तुमको उनके वचनपर विश्वास करना चाहिये था, क्योंकि वे 'सत्य' रूप धर्मकी ध्वजा हैं, सदा सत्य बोलते हैं। उनकी बात न माननेका कोई कारण न था।' (मा० प०) चौथे यह कि 'वे वृषकेतु हैं। बैलपर सवार रहनेसे क्या बौरहा (बावला) बनकर उनका अपमान किया है, उनको त्याग दिया है ?' (खर्रा) पाँचवें यह कि आप पातिव्रत्यकी पताका लिये फिरती थीं, वह पताका अब कहाँ गयी कि जो अब परस्त्रीका रूप धारण किया है! परायी स्त्री बनी हैं।

(३) *'बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू'* इति। (क) अर्धाङ्गिनी होकर वनमें पतिसे अलग अकेली फिरना स्वतन्त्रता है। यह कहकर स्वच्छन्दचारिणी, स्वेच्छाचारिणी जनाया, जो स्त्रियोंके लिये अयोग्य है; यथा *'जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारी।'* (कि० १५)। **'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥', 'अरक्षणाद्यथा पाकः श्वकाकवशगो वसेत्। तथैव युवती नारी स्वच्छन्दाद्दुष्टतां व्रजेत्॥'** (प० पु० सृ० ४९।२३, २५) अर्थात् बचपनमें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र नारीकी रक्षा करता है; उसे कभी स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिये......नहीं तो वह व्यभिचारमें प्रवृत्त हो जाती है। जैसे तैयार की हुई रसोईपर दृष्टि न रखनेसे उसपर कौए और कुत्ते अधिकार जमा लेते हैं, उसी प्रकार युवती नारी स्वच्छन्द होनेपर व्यभिचारिणी हो जाती है। (पार्वतीवचन) पुनः, भाव कि—(ख) हमारे स्त्रीवियोगका कारण तो हमारी इच्छानुसार है, (यथा—*'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥'* (३।२४) और तुमने तो पतिवचन न मानकर वनमें फिरना स्वीकार किया है, जो सब पतिव्रताओंको उचित नहीं। नीतिशास्त्र है कि **'भ्रमन्सम्पूज्यते राजा भ्रमन्सम्पूज्यते द्विजः। भ्रमन्सम्पूज्यते योगी स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति॥'** (वि० टी०) (ग) वनमें अकेली फिरती हो। हम राजकुमार हैं, परपुरुष हैं, स्त्रीवियोगसे पीड़ित हैं। हमारे सामने दाक्षायणीरूप त्यागकर सीतारूपसे आयी हो। किस उपपत्तिहेतु

अर्थ—(प्रथम तो) प्रभुने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पितासमेत अपना नाम लिया॥ ७॥ फिर कहा कि **'बृषकेतू'** (शिवजी) कहाँ हैं ? (आप) वनमें अकेली किस कारणसे फिर रही हैं? ॥ ८॥

नोट—१ सतीजीने सीतारूप धरकर श्रीरामजीको धोखा देना चाहा, उनकी परीक्षा लेनी चाही। प्रभुने प्रणाम आदिद्वारा ही जना दिया कि हम तुम्हारे कपटको जानते हैं, तुम सीता नहीं हो, तुम शिव-पत्नी हो। यहाँ 'पिहित' अलंकार है। जहाँ अपनी स्थिति छिपानेवाले व्यक्तिके प्रति कोई ऐसी क्रिया की जाय जिससे जान पड़े कि उसका वह हाल क्रिया करनेवालेको ज्ञात हो गया, वहाँ यह अलंकार होता है।

टिप्पणी—१ ***'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू'*** इति। (क) हाथ जोड़कर प्रणाम करनेमें भाव यह है कि—(१) सती सीतारूप धारण किये हुए हैं; तब भी श्रीरामजीने (परस्त्री होनेसे) माताभाव माना। इसी तरह जब सीतारूप त्यागकर पुनः सतीरूप धारण करनेपर भी शिवजीने (अपनी अर्धाङ्गिनी होते हुए भी) उनमें माताभाव माना। इस तरह, स्वामी-सेवक दोनोंका समान धर्म है, यह दिखलाया। [अथवा, स्वामीसे सेवकका धर्म अधिक कहा।] अथवा, (२) श्रीरामजी नरतन धारण किये हुए हैं और सती देवता हैं। अतः देवभावसे प्रणाम किया। यह माधुर्यकी मर्यादा रखी, यथा—***'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू॥'*** पुनः, (३) [शिवजीके इस विचारको कि ***'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ'***, पुष्ट करनेके लिये यहाँ हाथ जोड़कर प्रणाम किया। अर्थात् माधुर्यमें अपनेको राजकुमार जनाया और आगेके प्रश्नसे अपनी सर्वज्ञता भी प्रकट कर दी। (मा० प०)]

टिप्पणी—२ ***'पितासमेत लीन्ह निज नामू'*** इति। ☞ (क) पितासमेत अपना नाम लेकर प्रणाम करनेकी विधि है; यथा—***'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥'*** ***'बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पदसरोज मेले दोउ भाई॥ रामलखन दसरथ के ढोटा।'*** (१। २६९)—विशेष १। १५८ (८) में देखिये। यह प्राकृत व्यवहार करके अपने ऐश्वर्यको छिपाये हैं। (ख) यहाँ ऐश्वर्य है, माधुर्यका काम नहीं है; इसीसे सतीजीको पहचाना। और, किष्किन्धाकाण्डमें जब हनुमान्‌जी विप्ररूप धरकर आये हैं, तब वहाँ माधुर्यका वर्णन है; इसीसे वहाँ अनजानकी तरह पूछना लिखा है, वहाँ हनुमान्‌जीको मानो पहचानते नहीं, इसीसे उनको 'विप्र' कहकर सम्बोधन किया है; यथा—***'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।'*** (४। २) (ग) पितासमेत अपना नाम लिया अर्थात् कहा कि मैं रघुकुलमणि श्रीदशरथजी महाराजका पुत्र राम हूँ। इस तरह अपना पूरा परिचय दिया।

टिप्पणी—३ ***'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू।'''''''*** इति। (क) ***'बहोरि'*** अर्थात् अपने पिताका और अपना नाम लेकर प्रणाम करके उनका समाचार पूछते हैं। (ख) ***'बृषकेतू'*** का भाव कि शिवजीके केतु (ध्वजा) पर वृषभका चिह्न है जो दूरसे दिखायी पड़ता है, सो वे कहीं देख नहीं पड़ते ? कहाँ हैं? अथवा, **बृष**=धर्म। **'कहाँ बृषकेतू'**=धर्म ही जिनकी ध्वजा है वे शिवजी कहाँ हैं ? (ग) ***'बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू।'*** अर्थात् धर्मको छोड़कर वनमें फिर रही हो, यह किस लिये ? ***'फिरहु'*** शब्दसे सूचित हुआ कि सतीजी कहीं बैठी या खड़ी नहीं हुईं फिरती ही रहीं।

नोट—२ स्मरण रखनेकी बात है कि वक्ताओंने श्रीरामजीके ***'बृषकेतू'*** शब्दको शिवजीके लिये आगे इसी प्रकरणमें बहुत प्रयुक्त किया है; मानो श्रीरामजीने आजसे यह नाम शिवजीका रख दिया है। सती-त्यागकी सूचना इस प्रसंगमें इस शब्दसे प्रसंगके प्रारम्भमें ही दे दी है।

दो०—रामबचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहि चलीं हृदय बड़ सोचु॥ ५३॥

नामू' का अर्थ यह किया है कि—'हरि (श्रीरामचन्द्रजी) ने पितासमेत सतीजीका नाम लिया। अर्थात् दाक्षायणीजी! आपको नमस्कार है—यह कहा'। नमस्ते दक्षतनये। वीरभद्रचम्पूमें ऐसे ही वचन हैं। यथा— 'किं वाच्या दनुजा नागा वानराः किन्नरा नराः। वत्स लक्ष्मण पश्यैतां मायां मायाविमोहिताम्॥ नमस्ते दक्षतनये नमस्ते शम्भुभामिनि। किमर्थं धूर्जटिं देवं त्यक्त्वा भ्रमसि कानने॥' 'निज' पाठ १६६१, १७०४, को० रामका है।

अर्थ—श्रीरामजीके मीठे कोमल और गूढ़ वचन सुनकर सतीजीको अत्यन्त संकोच हुआ। वे डरी हुई महादेवजीके पास चलीं। उनके हृदयमें भारी सोच है॥ ५३॥

नोट—श्रीरामचन्द्रजीने तीन बातें कहीं—१ मैं दाशरथी राम हूँ, आपको नमस्कार करता हूँ। २ वृषकेतु कहाँ हैं ? ३ आप वनमें अकेली कैसे फिर रही हैं ? कोमल तो सभी शब्द हैं, उसपर भी ये वचन हाथ जोड़कर प्रणाम करके बोले गये थे, इससे वे और भी कोमल हो गये। सभी वचन सुननेमें मृदु हैं, पर समझनेमें गूढ़ हैं। अर्थात् इनमें बहुत अभिप्राय गुप्त हैं, बहुत व्यंग्य भरा हुआ है। इन वचनोंके गूढ़ आशय देखने हैं।

(१) *'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू'* (अर्थात् हाथ जोड़ने और प्रणाम करने) के भाव ऊपर (५३।७) टिप्पणी—१ में आ चुके। *'पिता समेत लीन्ह निज नामू'* का गूढ़ भाव श्रीबैजनाथजी यह लिखते हैं कि 'इससे अपने स्वरूपका परिचय दिया। इस तरह कि अगस्त्यजीने जो मनुशतरूपाका वृत्तान्त तुमको सुनाया और मनुशतरूपाका दशरथ-कौसल्यारूपसे अवतरित होना कहा, हम उन्हीं दशरथजीके यहाँ पुत्ररूपसे अवतरे हैं, वही 'राम' हैं।' माधुर्यमें भाव यह है कि आप सीतारूपसे मेरे पास आयी हैं; यदि मैं आपको पकड़कर हृदयसे लगा लेता तो सतीत्व कहाँ रह जाता ? यदि समझती हो कि पकड़नेके पहले ही अन्तर्धान हो जायँगी तो ऐसी समझ भूल है, क्योंकि कथामें सुन चुकी हो कि कपटमृग मुझे छलने न पाया, उसका मृगचर्म मैं ले ही आया, वैसे ही मेरे आगेसे तुम अन्तर्धान नहीं हो सकती थी। (श्रीजानकीशरणजी)

(२) *'बृषकेतू'*—जिनकी ध्वजापर 'वृष' है। वृष=बैल, धर्म। **बृषकेतू**=धर्मकी ध्वजा। यह शिवजीका एक नाम है। *'कहाँ बृषकेतू'* यह कहकर प्रथम तो यह जनाया कि हम तुमको जानते हैं। दूसरे यह कि शिवजी धर्मध्वज हैं, सदा धर्मपर तत्पर रहते हैं, आपके पातिव्रत्यधर्मकी भी ध्वजा वे ही हैं, उनके वचनोंको न मानकर और उनसे अलग होकर आपने तो मानो अपने पातिव्रत्यधर्मको ही तिलाञ्जलि दे दी। आपका वह सतीत्वधर्म अब कहाँ गया ? (खर्रा) तीसरे यह कि 'तुमको उनके वचनपर विश्वास करना चाहिये था, क्योंकि वे 'सत्य' रूप धर्मकी ध्वजा हैं, सदा सत्य बोलते हैं। उनकी बात न माननेका कोई कारण न था।' (मा० प०) चौथे यह कि 'वे वृषकेतु हैं। बैलपर सवार रहनेसे क्या बौरहा (बावला) जानकर उनका अपमान किया है, उनको त्याग दिया है ?' (खर्रा) पाँचवें यह कि आप पातिव्रत्यकी पताका लिये फिरती थीं, वह पताका अब कहाँ गयी कि जो अब परस्त्रीका रूप धारण किया है! परायी स्त्री बनी हैं।

(३) *'बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू'* इति। (क) अर्धाङ्गिनी होकर वनमें पतिसे अलग अकेली फिरना स्वतन्त्रता है। यह कहकर स्वच्छन्दचारिणी, स्वेच्छाचारिणी जनाया, जो स्त्रियोंके लिये अयोग्य है; यथा *'जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारी।'* (कि० १५)। '**पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥', 'अरक्षणाद्यथा पाकः श्वकाकवशगो वसेत्। तथैव युवती नारी स्वच्छन्दाद्दुष्टतां व्रजेत्॥** (प० पु० सृ० ४९।२३, २५) अर्थात् बचपनमें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र नारीकी रक्षा करता है; उसे कभी स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिये······नहीं तो वह व्यभिचारमें प्रवृत्त हो जाती है। जैसे तैयार की हुई रसोईपर दृष्टि न रखनेसे उसपर कौए और कुत्ते अधिकार जमा लेते हैं, उसी प्रकार युवती नारी स्वच्छन्द होनेपर व्यभिचारिणी हो जाती है। (पार्वतीवचन) पुनः, भाव कि—(ख) हमारे स्त्रीवियोगका कारण तो हमारी इच्छानुसार है, (यथा—*'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥'* (३।२४) और तुमने तो पतिवचन न मानकर वनमें फिरना स्वीकार किया है, जो कभी पतिव्रताओंको उचित नहीं। नीतिशास्त्र है कि '**भ्रमन्सम्पूज्यते राजा भ्रमन्सम्पूज्यते द्विजः। भ्रमन्सम्पूज्यते योगी स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति॥**' (वि० टी०) (ग) वनमें अकेली फिरती हो। हम राजकुमार हैं, परपुरुष हैं, स्त्रीवियोगसे पीड़ित हैं। हमारे सामने दाक्षायणीरूप त्यागकर सीतारूपसे आयी हो। किस उपपत्तिहेतु

क्रियाचातुरीकर स्वयं दूती बनकर क्रिया-विदग्धारूप धारण किया है? हम परकीयाके ग्राहक नहीं हैं। अतः लौट जाओ।' (वै०) पुनः, 'अकेली फिरना' कहकर यह भी जनाया कि 'पतिको तुमने स्वयं त्यागा और हमने भी न ग्रहण किया। अब लौटनेपर शिवजी भी तुम्हें न ग्रहण करेंगे; अब तो आप-से-आप तुम्हारे भाग्यमें अकेला ही रहना लिख गया। तुम न इधरकी हुई, न उधरकी।' (वै०) (ङ) *'केहि हेतू'* का भाव यह है कि परीक्षा लेने आयी हो ? अर्थात् बृषकेतु पतिकी तुमने अवज्ञा की, उनका कहा नहीं माना, तभी तो परीक्षा लेने आयी हो—यह व्यङ्ग श्रीरामजीके वचनोंके अभ्यन्तर भरा है।' अवज्ञा न करना स्त्रीका धर्म है; यथा— **'उद्याने मद्यपाने च राजद्वारे पितागृहे। आज्ञाभङ्गो न कर्तव्यो वरं यातु वराङ्गना॥'** (पं० रा० कु०) पुनः, (च) भाव कि मेरे इस वनमें फिरनेका हेतु तो यह है कि श्रीजानकीजीको कोई राक्षस हर ले गया है, हम उन्हें ढूँढ़ रहे हैं; यथा—*'इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥'* (कि० २) पर आप अकेली क्यों फिर रही हैं? अर्थात् आपके अकेले फिरनेका कोई कारण नहीं दीखता। क्या आपको राक्षसोंका भय नहीं है ? अथवा, क्या शङ्करजीको किसीने चुरा तो नहीं लिया ? (वीरकवि)

टिप्पणी—१ *'सुनि उपजा अति संकोचु'* इति। (क) इससे जनाया कि सतीजी गूढ़ व्यङ्गको जो श्रीरामजीके वचनोंमें भरा है समझ गयीं। इसीसे *'अति संकोचु'* हुआ। (ख) *'अति संकोचु'* का भाव कि संकोच तो तभी हुआ था कि जब प्रभुने पहचान लिया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। (अर्थात् हमने अपना रूप छिपाया सो ये जान गये, यह जानकर सतीजीको सङ्कोच हुआ था।) पर जब उन्होंने *'कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥'* ये वचन कहकर जनाया कि हम तुम्हारे हृदयके कुत्सित भावको भी जानते हैं और वही बात पूछते हैं, तब 'अति संकोच' हुआ (कि हमने अच्छी परीक्षा ली, शिवजीके चिताये हुए विवेकसे दूर रहीं)।

टिप्पणी—२ *'सती सभीत महेस पहिं चलीं'* इति। (क) अति संकोचवश होनेपर उत्तर नहीं देते बनता; यथा—*'सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई॥'* (अ० ७९) अतः सतीका कुछ उत्तर नहीं लिखा। और, उत्तर देतीं भी तो क्या? इसका कुछ उत्तर है ही नहीं। अतः उत्तर न लिखा गया। [(ख) *'सती'* शब्द देकर वक्ताने जना दिया कि अब सतीजी सीतारूप त्यागकर अपना रूप हो गयीं। रूप बदला, इसीसे नाम भी बदल गया। परन्तु पं० रामकुमारजीका मत है कि अद्भुत दर्शनके बाद कपट वेष छूटा। (५५) (६) देखिये।] (ग) *'सभीत'* इति। इसका कारण कवि स्वयं आगे लिखते हैं। वह यह कि *'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु रामपर आना॥ जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'* अर्थात् पति-अवज्ञा और उनके कोपसे भयभीत होनेसे शोचयुक्त हुईं। महादेवजीका डर है। (घ) *'महेस पहिं चलीं'* अर्थात् शिवजीकी आज्ञापर श्रीरामजीकी परीक्षा लेने चली थीं, अब यहाँसे फिर शिवजीके पास चलीं। दोनों *'चलीं'* के बीचमें कहीं बैठना नहीं कहकर जनाया कि बराबर फिरती ही रहीं; यथा—*'बिपिन अकेलि फिरहु......'* (ङ) *'हृदय बड़ सोचु।'* सोच अपनी करनीका है जैसा कि आगे वक्ता स्वयं स्पष्ट कह रहे हैं; यथा—*'हृदय सोच समुझत निज करनी।'* (५८।१) पुनः, सोच इस बातका है कि यह बात कैसे शिवजीसे छिपे ? उनको क्या उत्तर दूँ ?

मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु राम पर आना॥ १॥
जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥ २॥

शब्दार्थ—**कहा**=कहना, वचन। **आना**=लाना, आरोप करना, धरना। **काहा**=क्या।

अर्थ—मैंने शङ्करजीका कहना न माना। अपना अज्ञान श्रीरामचन्द्रजीपर आरोपित किया॥ १॥ अब जाकर क्या उत्तर दूँगी ? (यह सोचकर) हृदयमें अत्यन्त भयङ्कर जलन पैदा हो गयी॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'मैं संकर कर कहा न माना'* अर्थात् अपने कल्याणकर्त्ताका कहा न माना। अतः

मेरे कल्याणकी अब हानि हुई। [जो शिवजीका अनुमान था वही इनका अनुमान हुआ। यथा—*'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥ मोरेहु कहे न संसय जाहीं।'* ☞नोट—यह सतीजीका पश्चात्ताप है। वे अपनी भूल अब स्वयं स्वीकार कर रही हैं कि शङ्करजीका वचन मानना चाहिये था, सो मैंने न माना। मान लिया होता तो यह क्लेश क्यों भोगना पड़ता ? *'संकर कर कहा'* अर्थात् *'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।'* (५१।६) से *'अवतरेउ अपने भगत हित'*......' तक जो शिवजीने कहा था।] (ख) *'निज अज्ञानु राम पर आना'* इति। अर्थात् अज्ञानी तो मै हूँ, पर अपनेको मैंने सज्ञान समझा और श्रीरामजीका स्वरूप तो जाना नहीं, उलटे उन्हींको समझ लिया कि अज्ञ हैं, स्त्रीको खोजते हैं, यथा *'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी।'* (५१।२) [श्रीरामजी अज्ञानी नहीं हैं वे तो निर्मल दर्पण हैं। जो जैसा है उसको उनमें वैसा ही झलकता है। (मा० प०) मिलान कीजिये—*'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥'* (बा० ११७) तथा—*'जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभुपर मोह धरहिं इमि स्वामी॥ ......बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्या बादी।'......'निज अज्ञान रामपर धरहीं॥'* (उ० ७३) भाव यह है कि शिवजीने समझाया तो बहुत था, पर मेरी ही समझमें न आया।]

टिप्पणी—२ (क) सतीजीने अपने दो अपराध स्वीकार किये। एक यह कि सती कहलाकर भी मैंने पतिका वचन असत्य माना और दूसरा यह कि ब्रह्मको नर माना। यथा—*'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पतिबचन मृषा करि माना॥'* (५९।२) शङ्करजीका उपदेश न मानकर, ब्रह्मको मनुष्य जानकर उसकी परीक्षा ली, यह अपराध हुआ। इसी अपराधको छिपानेके लिये आगे झूठ बोलीं कि *'कछु न परीच्छा लीन्हि गोसाईं।'* (५६।२)[☞प्राय: देखा जाता है कि एक अपराधको छिपानेके लिये दूसरा अपराध किया जाता है और दूसरेके लिये तीसरा; इत्यादि। इससे हमको उपदेश मिलता है कि हम प्रथम ही अपराधपर सावधान हो जायँ, उसको स्वीकार कर लें जिसमें और पाप न बढ़े जो हमारे नाशका कारण बने।](ख) पूर्व दोहेमें *'सभीत'* और *'हृदय बड़ सोचु'* जो कहा है, उन्हींका हेतु यहाँ यथा संख्यालङ्कारसे कहा गया। अर्थात् *'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु राम पर आना॥'* इस हेतुसे सभीत हुईं। और *'जाइ उतरु अब देहौं काहा'* यह सोचका कारण हुआ। सोच और भय होनेसे 'अति दारुन दाह' उत्पन्न हुआ। [नोट—पण्डितजीके एक पुराने खर्रेमें यह लिखा है कि 'संकोच ऊपर कह आये कि 'मृदु गूढ़ बचन सुनकर' संकोच हुआ। अब *'मैं संकर कर कहा न माना।'*......' से सोचकी बात कहते हैं। कहना न माननेका सोच, अपना अज्ञान श्रीरामपर धरनेका सोच और 'अब क्या उत्तर दूँगी' इसका सोच है। अत: 'बड़ सोच' कहा गया।]

टिप्पणी—३ (क) *'जाइ उतरु अब देहौं काहा।'* इति। शिवजीकी बात सत्य निकली। अत: सोचती हैं कि जाकर क्या उत्तर दूँगी ? इतनेसे ही जना दिया कि शिवजी अवश्य प्रश्न करेंगे और हुआ भी ऐसा ही। शिवजीने प्रश्न किया कि *'लीन्हि परीछा कवनि बिधि कहहु सत्य सब बात।'* (५५) 'क्या उत्तर दूँगी' यह सोचकर हृदयमें बड़ा संताप हुआ और कोई उत्तर विचारमें नहीं आया तब उनसे झूठ बोलीं। (ख) *'उर उपजा अति दारुन दाहा'* इति। 'अति दारुन दाह' से तीन प्रकारके दाहकी सूचना मिलती है—दाह, दारुण दाह और अति दारुण दाह। ये तीनों सतीजीमें दिखाते हैं। इस तरह कि *'मैं संकर कर कहा न माना'* यह सोचकर *'दाह'* हुआ। *'निज अज्ञानु राम पर आना'* यह सोचकर 'दारुण दाह' हुआ। और, कुछ भी उत्तर नहीं सूझ पड़ता यह समझकर 'अति दारुण दाह' हुआ।

टिप्पणी—४ रघुपतिमाया अत्यन्त प्रचण्ड है, इसीसे इस प्रसङ्गमें रघुपतिमायाकृत विकार भी भारी-से-भारी वर्णन किये गये। यथा—*'अस संसय मन भएउ अपारा।' 'उपजा अति संकोचु', 'चली हृदय बड़ सोचु', 'उर उपजा अति दारुन दाहा', देखि सती अति भई सभीता', 'चिंता अमित जाइ नहिं बरनी', 'अकथनीय दारुन दुख भारी'* इत्यादि।

श्रीसतीजीके 'अति संकोच, बड़ सोच और अतिदारुण दाह'के कारणोंका खुलासा—

संकोच	१	*'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥'* से संकोच हुआ कि हमने छिपाया पर ये जान गये कि मैं सती हूँ, सीता नहीं हूँ।
अति संकोच	२	'वृषकेतु कहाँ हैं ? अकेली वनमें फिरनेका क्या कारण है ?'—इनके गूढ़ आशयको समझकर कि ये हमारे हृदयके कुत्सित भावको समझ गये कि पतिकी अवज्ञा करके परीक्षा लेने आयी हैं 'अति संकोच' हुआ।
परिणाम	३	उत्तर न बन पड़ा, यह परिणाम हुआ।
सभीत	१	पतिकी अवज्ञा और उनके कोपका भय है।
सोच	२	सोच अपनी करनीका है। शिवजीसे बात कैसे छिपे यह भी सोच है।
बड़ सोच	३	कहा न माननेका, अपना अज्ञान प्रभुपर आरोपित करनेका, और क्या उत्तर दूँगी, तीन बातोंका सोच होनेसे 'बड़ सोच' कहा।
परिणाम	४	हृदयमें क्रमशः दाह, दारुण दाह और अति दारुण दाह, यह परिणाम हुआ।
दाह	१	पतिकी अवज्ञासे (जो भय है उससे) दाह।
दारुण दाह	२	*'निज अज्ञान राम पर आना'*—इससे जो सोच है उससे दारुण दाह।
अति दारुण दाह	३	'शिवजीके प्रश्न करनेपर क्या उत्तर देंगी, यह न सूझनेसे जो बड़ा सोच है उससे 'अति दारुण दाह' हुआ।'
सबका परिणाम	४	पतिसे झूठ बोलीं।

दूसरी तरह संक्षेपसे इस प्रकार कह सकते हैं—

कारण	कार्य	परिणाम
१ श्रीरामजीका प्रणाम करना	संकोच	उत्तर न दे सकना
२ श्रीरामजीके दोनों प्रश्न	अति संकोच (पूर्व संकोचमें वृद्धि)	वापस चलना
३ शिवजीकी बात न मानना	भय (सभीत)	दाह
४ अपना अज्ञान रामपर लाना	सोच	दारुण दाह (पूर्वदाहमें वृद्धि)
५ जाकर क्या उत्तर दूँगी	बड़ सोच (पूर्वके सोचमें वृद्धि)	अति दारुण दाह

☞ यहाँ यह बात नहीं है कि प्रथम कारण (प्रणाम) होनेपर उसका कार्य और परिणाम हुआ, तब कुछ समयके बाद दूसरा कारण (प्रश्न) और कार्य आदि हुए, किंतु क्षणभरमें ही ये सब कारण, कार्य और परिणाम होते गये। इसीसे कविने पूर्वके कार्य तथा उनके परिणाम न कहकर केवल अन्तिम अवस्था (अर्थात् अति संकोच, लौट चलना, बड़ सोच और अति दारुण दाह) का उल्लेख किया। हाँ, केवल 'भीति' स्वतन्त्र वस्तु होनेसे लिखा फिर भी उसके परिणाम (दाह) का उल्लेख कविने नहीं किया। तथापि शतपत्र-भेदन्यायसे यहाँ कारण, कार्य और परिणाम दिखाये गये हैं। [साधारणतया अनुभवसे देखा जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि *'अति संकोचु'*, 'बड़ा सोच' या 'अति दारुण दाह' शब्दोंका प्रयोग तभी हो सकेगा कि जब उसके पूर्व 'संकोच', 'सोच' या 'दाह' और 'दारुण दाह' की प्राप्ति हुई हो। अपने प्रियके वियोगका समाचार सुनते ही मनुष्य अत्यन्त शोकको एकदम प्राप्त हो जाते हैं। 'अति', 'बड़ा,' 'भारी', 'दारुण', 'दुःसह' इत्यादि प्रायः केवल यह सूचित करनेके लिये प्रयुक्त होते हैं कि वह शोक, भय, दाह आदि सामान्य नहीं हैं। विशेष *'देखि सती अति भई सभीता।'* (१।५५) में देखिये]

* सती-मोह-प्रकरण *

इस प्रसङ्गके सम्बन्धमें कतिपय शैव महानुभावोंने यह लिखा है कि यह प्रसङ्ग किसी रामायण या पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं है, गोस्वामी तुलसीदासजीने साम्प्रदायिक विद्वेषसे यह प्रसङ्ग कल्पित किया है। हम उन महानुभावोंको क्या कहें ? केवल प्रेमी पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ कुछ लिख देना आवश्यक समझते हैं।

भा० ४।३।११ में जो सतीजीने कहा है कि '**तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥**' अर्थात् मैं स्त्रीस्वभाव होनेके कारण आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ हूँ और बहुत दीन हूँ, इसलिये अपनी जन्मभूमि देखनेके लिये बहुत उत्सुक हूँ, उससे स्पष्ट अनुमान होता है कि दुःखका कुछ कारण अवश्य है, जिससे वे पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके उनसे रुष्ट होकर पिताके घर चली ही तो दीं—जो व्यवहार एक सतीके लिये महान् अयोग्य था पर उस कारणका उल्लेख उसमें नहीं है। अतः उसे अन्यत्र खोजना है।

अध्यात्मरामायण और आनन्दरामायणमें भी उमा-महेश्वर-संवाद है। अध्यात्ममें पार्वतीजीका यही प्रश्न रामायणका मूल है जो रामचरितमानसका है। यथा—'**तथापि हृतसंशयबन्धनं मे विभेत्तुमर्हस्यमलोक्तिभिस्त्वम्॥ वदन्ति रामं परमेकमाद्यं निरस्तमायागुणसम्प्रवाहम्**……॥ **यदि स्म जानाति कुतो विलापः सीताकृतेऽनेन कृतः परेण।**……॥ **अत्रोत्तरं किं**……॥' (अ० रा० बाल० सर्ग १। ११-१२, १४-१५) अर्थात् तथापि अपने विशुद्ध वचनोंसे मेरे हृदयकी संशयग्रन्थिका उच्छेदन कीजिये। प्रमादरहित सिद्धगण श्रीरामजीको परम, अद्वितीय, सबके आदिकारण और प्रकृतिके गुणप्रवाहसे परे बतलाते हैं।……यदि वे आत्मतत्त्वको जानते थे तो सीताके लिये विलाप क्यों किया ?—ये उद्धृत वाक्य सूचना देते हैं कि उनको मोह हुआ था, उसकी निवृत्तिके लिये प्रश्न है। पर यह नहीं बताते कि मोह कब और कहाँ हुआ ? मानसमें इसकी जोड़का दोहा यह है—'*जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।*………*॥*' (१।१०८)

आनन्दरामायण सारकाण्डके सप्तम सर्गमें शिव-पार्वती-संवादमें 'सती-मोह' प्रसङ्गकी चर्चा आयी है। सीताहरणकी कथा कहकर जब शङ्करजी श्रीरामविरहका वर्णन करने लगे, तब पार्वतीजीको सतीतनमें श्रीरामविलाप देखकर प्रश्न करनेकी याद दिलाते हुए उन्होंने कथा कही है। यथा—'**ययौ पञ्चवटीं व्यग्रस्तत्र सीतां ददर्श न। ततो मानुषभावं तु दर्शयन् सकलाञ्जनान्॥**' (१३६) से श्लोक १५० तक।

एकनाथजी महाराजकी मराठीमें रची हुई भावार्थ-रामायणमें भी सती-मोहका प्रसङ्ग कुछ परिवर्तितरूपमें है। आकाशमें प्रभुके विरह-विलापकी लीला देवता लोग देख रहे हैं। शिव-पार्वतीजी भी देख रहे हैं। सतीजीको भ्रम हो गया। वे शङ्करजीसे पूछती हैं—'आप जिनको पूर्णब्रह्म मानते हैं, क्या ये वही हैं ?' और शङ्करजीके 'हाँ' करनेपर फिर बोलीं कि 'ये तो सीता-सीताकी पुकार मचाते हुए व्याकुलतासे वृक्षों और पाषाणोंको भी छातीसे लगा रहे हैं'। शङ्करजीका उत्तर पाकर कि 'तथापि ये पूर्णब्रह्म हैं' इत्यादि, अन्तमें सतीजीने कहा 'यदि मैं रामको छका दूँ तो ? इसपर शिवजीने कहा 'तो हम समझ लेंगे कि ये ब्रह्म नहीं हैं। शङ्करजीने आखिर यह कहा कि 'वे पूर्ण सावधान हैं, तेरी इच्छा हो तो परीक्षा कर देख।' बस सती सीतारूप धरकर श्रीरामके सामने खड़ी हो गयीं, पर उन्होंने उनकी ओरसे मुँह फेर लिया। सती सामने बार-बार जाती हैं कि इधर देखिये मैं आ गयी, पर वे मुँह फेर लेते हैं। लक्ष्मणजी भी कहते हैं कि माता सीता तो आ गयीं, आप क्यों चिल्लाते हैं ? तब श्रीरामजी डाँटते हैं कि भाई होकर मुझसे वैर क्यों करता है? यहाँ सीता कहाँ हैं? लक्ष्मणजी चुप हो रहे कि माता स्वयं समझ लेंगी। ब्रह्मा आदि भी भ्रममें पड़ गये कि सीता कैसे आ गयीं। सीतारूप सतीने श्रीरामका हाथ पकड़ लिया और समझाया। तब भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—'माता! मैं आपके चरण छूता हूँ, आप मुझे न सताइये।……आप मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों

कर रही हैं ? भगवान् शङ्करको अकेले छोड़कर मुझे तंग करनेके लिये सीताका रूप धारणकर आप यहाँ क्यों आयी हैं ? यह सुनकर वे चरणोंपर गिरीं। ग्लानि होनेपर वृक्षों आदिसे भेंटनेका रहस्य तथा परमार्थका रहस्य श्रीरामजीने उन्हें बताया। उनको पूर्ण ज्ञान हो गया और वे कैलासको लौट गयीं। सीतारूप धारण करनेसे शिवजीने उनमें माताभाव कर लिया। तब दक्षयज्ञके बहाने वहाँ जाकर उन्होंने शरीर त्याग दिया।

एकनाथजीका समय सं० १५८५ से १६५५ तक कहा जाता है। सं० १६२८ से १६३० तक उनका काशीमें रहना पाया जाता है। भावार्थरामायणका समय सं० १६४५ से १६५५ तकके भीतरका कहा जाता है। आनन्दरामायण श्रीसमर्थ रामदासजीकृत कहा जाता है और समर्थजीका समय मानसके पश्चात् आता है। इससे इन ग्रन्थोंसे गोस्वामीजीने लिया, यह सिद्ध नहीं होता।

वीरभद्रचम्पू पुराना ग्रन्थ है। इसमें भी सतीजीका मोहवश सीतारूप धारण करके श्रीरामजीके समीप जाना इत्यादि पाया जाता है। श्रीरामजी उनको देखकर लक्ष्मणजीसे कहते हैं—'**किं वाच्या दनुजा नागा वानरा किन्नरा नराः।**……' (५३। ७। पाद—टि० देखो)। अर्थात्—श्रीरघुनाथजी श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं कि दैत्यों, नागों, वानरों, किन्नरों और नरोंकी कौन कहे देखो तो कि माया (शिवशक्ति श्रीसतीजी) भी मेरी मायासे विमोहित हो गयी हैं।—यह कहकर तब सतीजीसे बोले कि 'शम्भुभामिनी दक्षतनये! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। किस कारणसे महादेवजीको त्यागकर आप वनमें भ्रमण कर रही हैं ?'

अब हम शिवपुराणका ही प्रमाण देते हैं जो शैवग्रन्थ है। उसीमें यह मोह-प्रसङ्ग पूरा-पूरा मिलता है। हम कुछ अंश उसका यहाँ उद्धृत करते हैं और उसकी जोड़की चौपाइयाँ भी देते हैं—

शिवपुराण, रुद्रसंहिता-अ० २४	मिलती-जुलती चौपाई
१ एकस्मिन् समये रुद्रः सत्या त्रिभवगो भवः। आगत्य दण्डकारण्यं पर्यटन् सागराम्बरम्॥ २२॥	'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥ संग सती जगजननि भवानी।'
२ तत्र रामं ददर्शासौ लक्ष्मणेनान्वितं हरः। अन्विष्यन्तं प्रियां सीतां रावणेन हृतां छलात्॥ २३॥ यतस्ततश्च पश्यन्तं रुदन्तं हि मुहुर्मुहुः॥ २४॥	'तेही समय जाइ दससीसा।………करि छल मूढ़ हरी बैदेही।………बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥………देखा प्रगट बिरह दुख ताके।'
३ पूर्णकामो वराधीनः प्रणमत्समुदाहरः॥ २७॥ इतीदृशीं सती दृष्ट्वा शिवलीलां विमोहनीम्। सुविस्मिता शिवं प्राह शिवमायाविमोहिता॥ २९॥	'सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥ संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥'
४ सत्युवाच—त्वं प्रणम्यो हि सर्वेषां सेव्यो ध्येयश्च सर्वदा। तयोर्ज्येष्ठं कञ्जश्यामं दृष्ट्वा वैकेन हेतुना। मुदितः सुप्रसन्नात्मा भवाभक्त इवाधुना॥ ३४॥	'तिन्ह नृपसुतन्ह कीन्ह परनामा।………भए मगन छबि तासु बिलोकी।'
५ शिव उवाच—शृणु देवि सती प्रीत्या यथार्थं वच्मि नच्छलम्॥ ३७॥ ज्येष्ठो रामाभिधो विष्णुः पूर्णांशो निरुपद्रवः। अवतीर्णः क्षितौ साधुरक्षणाय भवायनः॥ ४०॥	'मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। ………सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'
६ श्रुत्वापीत्थं वचः शम्भोर्न विशश्वास तन्मनः॥ ४१॥	'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।'
७ शिव उवाच—शृणु मद्वचनं देवि न विश्वसति चेन्मनः। तव रामपरीक्षां हि कुरु तत्र स्वया धिया॥ ४३॥	'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥'
८ गत्वा तत्र स्थितास्तावद् वटे भव परीक्षिका।	'तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥'
९ ब्रह्मोवाच—इत्थं विचार्य सीता सा भूत्वा रामसमीपतः। अगमत् तत्परीक्षार्थं सती मोहपरायणा॥ ४७॥	'पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप। आगे होइ चलि पंथ तेहि……॥'

१० सीतारूपां सतीं दृष्ट्वा जपन्नाम शिवेति च।
विहस्य तत् प्रविज्ञाय नत्वावोचद्रघूद्वहः॥
राम उवाच—प्रेमतस्त्वं सति ब्रूहि क्व शम्भुस्ते नमो नमः।
एका हि विपिने कस्मादागता पतिना विना॥ ४९॥
११ इति रामवचः श्रुत्वा चकितासीत्सती तदा।
स्मृत्वा शिवोक्तं मत्वा चावितथं लज्जिता भृशम्।
अचिन्तत् पथि सा देवी सञ्चलन्ती पुनः पुनः।
किमुत्तरमहं दास्ये गत्वा शंकरसन्निधौ॥ ४३॥ अ०

'सती कपट जानेउ सुरस्वामी। ....जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥ कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥'

'रामबचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु। सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु॥ ५३॥.......'

'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'

जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥ ३॥
सती दीख कौतुक मग जाता। आगें रामु सहित श्रीभ्राता॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी जान गये कि सतीजीको दुःख हुआ (अतः) उन्होंने अपना कुछ प्रभाव प्रकट कर दिखाया॥ ३॥ सतीजीने मार्गमें चलते हुए यह कौतुक (तमाशा) देखा, (कि) श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजी और भाईसहित आगे (चले जा रहे) हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जाना राम सती दुखु पावा।'........'* इति। (क) सतीजीके हृदयके सोच और अत्यन्त दारुण सन्तापके जाननेके सम्बन्धसे *'राम'* नाम दिया। सबमें अन्तर्यामीरूपसे रमे हुए हैं, हृदयके भावोंके साक्षी हैं, अतः जान गये। (ख) *'सती दुखु पावा'* सतीजीने दुःख पाया और श्रीरामजी यह बात जान गये कि सतीजीने हमारे निमित्त दुःख पाया। बड़े लोग पराया दुःख नहीं देख सकते, यथा—*'सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। कहीं कथा सुंदर सुख हेतू॥'* (५८) श्रीरघुनाथजीका करुणामय स्वभाव है, वे पराया दुःख देखकर शीघ्र स्वयं दुःखी हो जाते हैं; यथा—*'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥'* (अ०) अतः उनका दुःख दूर करनेका उपाय कर दिया। 'निज प्रभाव' कुछ दिखाया जिसमें इस समय उनका मन प्रभाव देखनेमें लग जायगा तो दुःख भूल जायगा।

टिप्पणी—२ *'निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा'* इति। (क) एक कारण ऊपर लिखा गया। प्रभाव प्रकट करनेका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सतीजी इनको प्रभावरहित जाने हुए हैं। अतः किंचित् प्रभाव दिखाया कि वे जान लें कि हम ऐसे हैं। बड़े लोग कहकर नहीं दिखाते, करके दिखाते हैं। तीसरे, प्रभाव देख लेनेसे संशय दूर हो जाते हैं, यथा—*'जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात। जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेमु अमात॥'* (बा० २८४) चौथे यह प्रभाव देख लेनेसे फिर माया नहीं व्यापती और न मायासे उत्पन्न भ्रम, संदेह आदि दुःख व्यापते हैं; यथा—*'अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया निअराई॥'* (बा० १३८) *'माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि। जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥'* (उ० ८५) पाँचवें यह कि जबतक इनको यह विश्वास न हो जायगा कि हम ब्रह्म हैं, इनको पतिवचनपर पूर्ण विश्वास न होगा। अभी ब्रह्म होनेका निश्चय नहीं है, नहीं तो पतिकी तरह ये भी अब प्रणाम करतीं। (ख) *'कछु प्रगटि जनावा'* इति। *'कछु'* का भाव कि प्रभाव तो अमित है (जैसा भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे उत्तरकाण्डमें कहा है—*'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥'* (९१) अनंत अमित प्रभावमेंसे कुछ दिखाया। इससे सूचित हुआ कि जो प्रभाव आगे वर्णित है यह किंचिन्मात्र है; सम्पूर्ण प्रभाव नहीं है, केवल उतना है जितनेसे सतीजीको यह बोध हो जाय कि ये ब्रह्म हैं। सम्पूर्ण प्रभाव तो न कोई जान सकता है, न देखनेका सामर्थ्य रखता है। (ग) *'प्रगटि जनावा'* इति। प्रकट करके दिखानेमें भाव यह है कि पूर्व भी तो कुछ प्रभाव दिखाया था। अर्थात् सर्वज्ञता गुण जो दिखाया था वह गुप्त था, गूढ़ वचनोंद्वारा जनाया गया था और अब कुछ प्रकट भी दिखाते हैं (जिसमें परीक्षामें कुछ कसर न रह जाय)।

* निज प्रभाउ कछु प्रगटि दिखावा *

पूर्व दिखा चुके हैं कि सतीजीको यह संदेह था कि निर्गुण ब्रह्म *'व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद'* है, वह नरदेह धारण ही नहीं करता, दूसरे यह कि विष्णुभगवान् सगुण ब्रह्म हैं, वे नरदेह धारण करते हैं, सो वे सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधाम हैं, श्रीपति हैं, लक्ष्मीजीका उनसे कभी वियोग होता ही नहीं और न निशिचर उनको हर हो सकते हैं। सीतारूप धरकर रामसमीप आनेपर रामजीने उनको विधिवत् प्रणाम किया और *'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥'* श्रीरामजीके इन गूढ़ वचनोंसे सतीजीको यह बोध हो गया कि ये सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, अन्तर्यामी हैं। परन्तु इससे यह निश्चय नहीं होता कि ये ब्रह्म हैं जो अज, अकल, विरज, अभेद और व्यापक हैं, क्योंकि विष्णुभगवान् भी तो सर्वज्ञ हैं और अनेक योगी और सिद्ध भी इतना हाल जान लेते हैं। श्रीरामजी स्वतः ही उनका कपट जान गये, इससे वे अनुमान कर सकती हैं कि ये ब्रह्म ही हैं, विष्णु नहीं, परन्तु निश्चय नहीं कर सकीं क्योंकि वे क्या जानें कि ये स्वतः जान गये या कैसा ? पहचान भर लेना उनका संशय निर्मूल करनेको पर्याप्त न था। श्रीरघुनाथजीने जब देखा कि ये बहुत दुःखित हैं तब इनपर दया आ गयी। वे सोचे कि इनका यह भ्रम मिटा ही देना और पतिवचन *'सच्चिदानंद परधामा', 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा'* इत्यादिमें विश्वास करा देना इसी समय उचित है, नहीं तो इनका त्याग सदैवके लिये हो जायगा। हमारे सम्मुख आनेपर भी प्रबोध न हुआ तो फिर कभी भी न होगा।' सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि रामजीने जान लिया कि सतीको दुःख हुआ पर अभी ये मुझे सच्चिदानन्द ब्रह्म नहीं मानतीं, नहीं तो पतिकी तरह अब तो मुझे प्रणाम करतीं; अतः इनको अपना प्रभाव प्रकट करके दिखाया। प्रभुका प्रभाव बिना उनके जनाये कौन जान सकता है ?—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'* बिना प्रभाव जाने प्रतीति नहीं होती, जिसके बिना प्रीति नहीं हो सकती; यथा—*'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'* यह भी जान लेना चाहिये कि प्रभाव प्रकट देख लेनेपर फिर माया नहीं व्यापती और न मायाजनित भ्रमादि दुःख व्यापते हैं; यथा—*'अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया निअराई॥', 'मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।'* अतएव कुछ प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाया।

इस समय किंचित् ही प्रभाव प्रकट देख लेनेसे सतीजीके उपर्युक्त संदेह दूर हो जाते हैं। इसीसे पार्वतीतनमें अब यह शंका नहीं करती हैं कि 'यह ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? ब्रह्म मनुष्य कैसे हो सकता है ?' ☞ जो प्रभाव प्रभु यहाँ दिखा रहे हैं, उससे सतीजीको यह निस्संदेह बोध हो जायगा कि 'श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं और विधि-हरि-हर परतन्त्र हैं। रघुनाथजी 'सच्चिदानन्द परमधाम' सबके इष्टदेव और सेव्य हैं। श्रीसीताजीका वियोग इनको नहीं हुआ और न हो सकता है, इनमें वियोग इनको नहीं हुआ न हो सकता है, इनमें वियोग और दुःखकी कल्पना निर्मूल थी।'

जो कोरे पण्डित या कवि हैं, श्रीरामजीके परत्व और गुण-स्वभावको नहीं जानते, जो रामोपासक नहीं हैं, वही यहाँ भ्रममें पड़ जाते हैं कि सतीजीको इस दुःखित दशामें प्रभाव दिखाना अनुचित था। भगवान् भक्तवत्सल हैं। अम्बरीषजी इत्यादिकी कथाएँ सभी जानते हैं। आपने अपने परम भक्त श्रीशङ्करजीके वचनोंकी सत्यता दिखानेके लिये, सतीको सच्चिदानन्दरूपका प्रबोध कराने तथा उनके कल्याणके लिये अपना लेशमात्र प्रभाव प्रकट कर दिखाया, न कि सतीको भयमें डालनेके लिये। सतीजी तो अपने अपराधोंसे ही भयभीत हैं। यदि उन्हें उनका भय और दुःख ही बढ़ाना अभिप्रेत होता तो विराट्‌रूपका दर्शन कराते, जैसे अर्जुनको। बात तो यह है कि सतीजीको दुःख तो हुआ पर इतनेपर भी न उन्हें पश्चात्ताप ही हुआ और न दीनता तथा नम्रता ही आयी; अतः प्रभाव दिखाया।

प० प० प्र०—श्रीरामजीने सतीको मातृभावसे प्रणाम किया है। वे अत्यन्त कोमलचित्त हैं, अतः उन्होंने सतीजीको अपना दिव्य, सौम्य, व्यापक विश्वरूप उपास्य-उपासकरूपमें प्रकट किया। यह विश्वरूप दुःखी जगज्जननीको भयभीत करनेके लिये नहीं दिखाया गया। श्रीकौसल्याजीको जो विश्वरूप दिखाया गया वह इतना रमणीय नहीं था। सतीजीके सभीत होनेका कारण विश्वरूप नहीं था। अपितु परमात्माको मैंने नृपसुत मान लिया और *'निज अपराध राम पर आना'* यह था, जैसे कौसल्याजीके सभीत होनेका कारण *'जगत पिता मैं सुत करि जाना।'* (२०२।७) यह था।

टिप्पणी—३ *'सतीं दीख कौतुक मग जाता।'* इति। (क) *'कौतुक'* पद देकर जनाया कि उन्होंने श्रीसीता-लक्ष्मणसहित अनेक रूप प्रकट किये और फिर क्षणमात्रमें उनमेंसे एक भी न रह गये। यही कौतुक है। अथवा, **कौतुक**=लीला। माया दिखलानेमें भी कौतुक शब्दका प्रयोग होता है, यथा—*'.....मायानाथ अति कौतुक कर्यो। देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्यो॥'* (३। २०) (ख) *'मगजाता'* अर्थात् आगे मार्गमें श्रीराम-लक्ष्मण-जानकी तीनों देख पड़े। (ग) ☞पूर्व ४९ (८) में कह आये हैं कि *'कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुख ताकें॥'* उसीके सम्बन्धसे यहाँ नित्य संयोग दिखाते हैं। इससे सतीजीका वह भ्रम मिटेगा जो *'खोजै सो कि अग्य इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥'* से ज्ञात होता है। अर्थात् उनको बोध हो जायगा कि श्रीरामजी सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, श्रीसीताराम-संयोग नित्य है, इनमें त्रिकालमें कभी वियोग नहीं है, अज्ञ इव खोजना विधिके वचन सत्य करनेके लिये नरनाट्यमात्र था, वस्तुत: सीताहरण हुआ ही नहीं, केवल मायासीताका हरण हुआ है। अत: सीता-लक्ष्मणसमेत दर्शन दिया गया।

टिप्पणी—४ *'आगे रामु सहित श्रीभ्राता'* इति। ऊपर कह आये कि सतीजी महादेवजीके पास सभीत चलीं। महादेवजी पञ्चवटीसे उत्तर दिशामें हैं और श्रीरामजी पञ्चवटीसे दक्षिणकी ओर जा रहे हैं। सतीजी इस समय श्रीरामजीवाला मार्ग छोड़कर उत्तरवाले मार्गपर जा रही हैं। दूसरे, इस समय सतीजी श्रीरामजीसे सकुचाकर चली हैं। संकोचवश होनेसे वे पीछे श्रीरामजीकी तरफ नहीं देखती हैं और सोचके वशीभूत होनेसे वे इधर-उधर भी कहीं दृष्टि नहीं डालतीं, सीधे महेशजीके पास चली जा रही हैं। इसीसे भगवान् श्रीसीता-लक्ष्मणसहित जिस मार्गमें सतीजी चली जा रही हैं, उसी मार्गमें उनके सामने ही प्रकट हो गये जिसमें वे देखें। अथवा, सतीजी श्रीरामजीको पीछे छोड़ आयी हैं इसीसे आगे देख पड़े। [५० (१) टिप्पणी—२ के अन्तमें प० प० प्र० का मत देखिये]

प० प० प्र०—*'सहित श्रीभ्राता'* इति। *'श्री'* का प्रयोग साभिप्राय है। सतीजीका संशय इस प्रकार है—*'बिष्नु जो सुर हित नरतनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अग्य इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥'* अत: प्रथम *'रामु सहित श्रीभ्राता'* रूप दिखाकर सूचित किया कि विष्णु-अवतार रामको भी नरनाट्यमें स्त्रीको खोजना पड़ता है, पर वह केवल माधुर्य लीला है, इत्यादि।

फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥ ५॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥ ६॥

अर्थ—(फिर उन्होंने) फिरकर देखा तो प्रभुको भाई और श्रीसीताजीके सहित सुन्दर वेशमें पीछे भी देखा॥ ५॥ जहाँ (ही) दृष्टि डालती हैं वहाँ (ही) प्रभु विराजमान हैं और प्रवीण (सेवामें कुशल, चतुर) सिद्ध और मुनीश्वर सेवा कर रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा।.......'* इति। (क) सतीजीने जब अपने आगे तीनों मूर्तियोंको देखा तब उनको सन्देह हुआ कि मैंने तो अभी केवल दोनों भाइयोंको पीछे छोड़ा था, ये आगे कहाँसे आ गये और सीताजी इतनी जल्दी कहाँसे मिल गयीं जो इनके साथ हैं ? अत: सन्देह मिटानेके लिये चकित होकर उन्होंने फिरकर पीछे देखा। अथवा, मारे सङ्कोचके आगे न देख सकीं इससे फिर गयीं। पीछेकी ओर मुख कर लिया तो अब पीछे भी तीनों देख पड़े। (ख) *'सहित बंधु सिय'* इति। देखिये, जब सतीजीने आगे देखा तब वहाँ सीताजीको प्रथम कहा और यहाँ पीछे देखनेमें बन्धु लक्ष्मणजीको प्रथम कहते हैं। एक जगह सीताजीको प्रथम और दूसरी बार लक्ष्मणजीको प्रथम कहकर जनाया कि श्रीरामजीकी प्रीति दोनोंमें समान है। अथवा, जब आगे देखा था तब सतीके सामने चले आते थे, उस समय श्रीरामजी आगे हैं, उनके पीछे श्रीसीताजी हैं तब लक्ष्मणजी हैं—ऐसा देखा। इसीसे प्रथम *'श्री'* कहा तब भ्राता। और जब फिरकर पीछे देखा तो वहाँ भी वही क्रम है। तीनों दक्षिणकी ओर जा रहे

हैं। सबसे आगे श्रीरामजी हैं, उनके पीछे सीताजी, तब लक्ष्मणजी। इस समय सतीजीकी ओर उनकी पीठ है, इसीसे प्रथम लक्ष्मणजी देख पड़े तब सीताजी। अतएव फिरकर देखनेपर *'सहित बंधु सिय'* कहा—[☞ स्मरण रहे कि मार्गमें चलते समय चलनेकी विधि यही है कि बीचमें सीताजी रहती हैं और आगे श्रीरामजी। यथा—*'आगे रामु लखनु बने पाछे। तापस बेष बिराजत काछे॥ उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥'* (अ० १२३) ☞ जो मूर्तियाँ आगे देखीं वे सामनेसे आती हुई दिखायी दीं और जो मूर्तियाँ पीछे देखीं, वे मूर्तियाँ दूसरी ओर चली जाती हुई दिखायी दीं। ☞ इस तरह श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तीनोंका नित्य संयोग दिखाया।] (ग) *'सुन्दर बेषा'* इति। यहाँ सुन्दर बेष तपस्वी-उदासी वेष है। यथा *'आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें॥'* (३।७) तथा *'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥'* (कि० २)

नोट—१ बैजनाथजीका मत है कि सतीजीको जो दर्शन दिया गया वह दिव्य भूषण-वसन आदि पूर्ण शृङ्गारयुक्त प्रसन्नवदन मूर्तियोंका दिव्यदर्शन था। इसीसे *'सुंदर बेष'* पद दिया गया। अर्थात् यह दर्शन तपस्वी वेषका नहीं है। उनका मत है कि यहाँ सनत्कुमारसंहितावाला दिव्य ध्यानवाला दर्शन अभिप्रेत है। यथा—**'वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे। मध्ये पुष्पमयासने मणिमये वीरासने संस्थितम्॥ अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं च सद्भिः परम्। व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम्॥'** वे बन्धुसे भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों भाइयोंका साथ होना कहते हैं। वि० त्रि० का मत है कि पीछे तीनों मूर्ति नृपवेषमें दिखायी दिये, जिसमें सती यह न समझें कि 'जिधर मुँह फेरती हूँ उधर ही आ खड़े होते हैं।

टिप्पणी—२ *'जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।'* इति। (क) आगे और पीछे देख चुकीं। अब दाहिने-बाएँ, ऊपर-नीचे, जहाँ दृष्टि जाती है वहाँ ही सर्वत्र प्रभुको आसन (सिंहासन) पर बैठे देखती हैं। अथवा, जहाँ देखती हैं वहाँ सङ्कोचके कारण सम्मुख दृष्टि नहीं करतीं, इसीसे तुरन्त अन्यत्र देखने लगती हैं। अतः *'जहँ चितवहिं तहँ'* कहा। (ख) *'तहँ प्रभु आसीना'* इति। आगे और पीछे जिन श्रीरामजीको देखा उनके विषयमें कुछ न कहा कि वे खड़े हैं कि बैठे हैं अथवा चलते हैं। यहाँ सबका हाल इकट्ठा कहा कि जहाँ भी दृष्टि डालती हैं तहाँ ही प्रभुको बैठे देखती हैं। 'तात्पर्य कि सतीजी दोनों भाइयोंका खोजते फिरना जानती-समझती हैं। इससे प्रभुने बैठे हुए स्वरूपका दर्शन कराया। भाई और सीतासहित बैठे हुए दर्शन देकर जनाया कि न तो सीताहरण ही हुआ है और न हम दोनों भाई खोजते फिरते हैं; हम तीनों तो सुखपूर्वक एकत्र बैठे हैं।

नोट—२ परंतु पण्डितजीने जो भाव टि० १ (ख) में दिया है उससे यह विरोध पाता है। उस भाव तथा समाधानके अनुसार तो पूर्व जो दर्शन आगे और पीछे हुए, वे चलते हुए मूर्तियोंके ही निश्चित होते हैं और गोस्वामीजीके शब्दोंसे भी वह भाव सिद्ध होता है। *'मग जाता'* को दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर ले लेनेसे तीनों मूर्तियोंका मार्गमें चलते हुए देखना स्पष्ट सिद्ध है। यदि टि० २ (ख) वाले भावको ही ठीक मानें तो उपर्युक्त टि०—१ (ख) वाला भाव और समाधान छोड़ देना होगा। पहले तीनों मूर्तियोंको चलते दिखाकर जनाया कि सीताजीको खोजना लीलामात्र है। फिर दिव्य दर्शन देकर, जिसमें प्रभु सिंहासनासीन हैं, सर्वत्र विराजमान हैं, जनाया कि हम विष्णु नहीं हैं, ब्रह्म हैं, सर्वव्यापी हैं। *'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं'* तथा शिववाक्य *'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म……'* को यहाँ चरितार्थ किया। इसमें ऐश्वर्य दिखाया है। भाव यह कि निर्गुणरूपसे ही नहीं वरन् सगुणरूपसे भी हम व्यापक हैं।

टिप्पणी—३ *'सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना'* इति। यह दिखाकर शिवजीके वचनोंको चरितार्थ किया। यथा *'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ मुनि धीर योगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।'* (बा० ५१) **सिद्ध**=सिद्धावस्थाको प्राप्त। **मुनि**=साधनावस्थाको प्राप्त। (विशेष ४४) (७) देखिये। दोनों अवस्थावालोंसे सेवित दिखाया। आगे शिव, विधि, विष्णु आदिको शक्तियोंसहित दिखाया है। सती, विधात्री और इन्दिरा त्रिदेवोंकी शक्तियाँ हैं। उनको साथ-साथ कहा है। यथा—*'सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।'* (५४)

और देवताओंको भी शक्तियोंके साथ कहा है; यथा—*'सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते।'* पर यहाँ सिद्ध मुनीश्वरोंकी स्त्रियोंको न कहा। ऐसा करके जनाया कि प्रभुकी सेवामें निवृत्तिमार्गवाले सिद्ध मुनीश्वर भी हैं और प्रवृत्तिमार्गवाले देवता आदि भी हैं। इससे जनाया कि हम सबके सेव्य हैं। ५५ (१—३) टिप्पणी—५ भी देखिये।

प० प० प्र०—१ *'आसीना'* से दिखाया कि राम ब्रह्म हैं, उनको आना-जाना इत्यादि कुछ नहीं है, तथापि वहीं प्रभु होनेसे **'आसीनो दूरं व्रजति', 'तद् दूरे तदन्तिके'** भी है। २ शिव-विधि-विष्णुके पूर्व सिद्ध, मुनीशका उल्लेख करनेका हेतु यह है कि वे अन्तर्बाह्यत्यागी हैं और त्रिदेव अन्तस्त्यागी हैं, बहिर्भोगी हैं। सिद्ध, मुनीश त्रिदेवसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनका चरित्र सहज अनुकरणीय आदर्शभूत रहता है। देवताओंका चरित बहिर्भोगी रहता है, गूढ़ है, अनुकरणीय नहीं है। इसीसे **'न देवचरितं चरेत्'** कहा है। 'प्रवीण' वे हैं जो सब संशयोंको त्यागकर, श्रीरघुपति रामका भजन करते हैं। यथा—*'मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥'* (७। १२२)

देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ ७॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥ ८॥
दो०—सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥ ५४॥

अर्थ—एक-से-एक अमित प्रभाववाले अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु देखे॥ ७॥ जो प्रभुके चरणोंकी वन्दना और सेवा कर रहे हैं। सब देवताओंको भाँति-भाँतिके अनेक वेष धारण किये हुए देखा॥ ८॥ अगणित उपमारहित सती, ब्रह्माणी और लक्ष्मियोंको देखा। जिस-जिस वेषमें ब्रह्मादि देवता थे, उसी-उसीके अनुरूप इनके भी शरीर और वेष थे॥ ५४॥

टिप्पणी—१ *'देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका॥.....'* इति। (क) श्रीरामजीके सेवकोंमें शिवजी अग्रगण्य हैं। अतः उनको प्रथम कहा। अथवा, सतीजीको भ्रम है कि श्रीरामजी नर हैं और ये शिवजीकी शक्ति हैं, इसीसे प्रथम शक्तिसहित शिवजीको ही सेवा करते दिखाया। (ख) ☞ भुशुण्डिजीके मोह-प्रकरणमें प्रथम ब्रह्माजीका नाम लिखा गया है। यथा—*'कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥'* (उ० ८०) और यहाँ प्रथम शिवजीका। यह भी साभिप्राय है। सतीजीका सिद्धान्त है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता; यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'* (५०) इसपर शिवजीने कहा कि ब्रह्म अवतार लेता है, यथा—*'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (५१) सतीजीका सिद्धान्त है कि विष्णु अवतार लेते हैं। यथा—*'बिष्नु जो सुरहित नरतनु धारी।'*, इसीसे श्रीरामजीने अपना प्रभाव दिखाया कि विष्णु हमारे चरणसेवक हैं; यथा—*'बंदत चरन करत प्रभु सेवा।'* ये हमारे अंशसे उपजते हैं, यथा—*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* (१। १४४) [प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यहाँ रामभक्तिका प्रसंग है और विशेषतः शिवशक्ति सतीका सम्बन्ध मुख्य है। सतीजी शिवजीको विष्णुसे भी श्रेष्ठ मानती हैं, जैसा उनके *'सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी। खोजइ सो कि अग्य इव नारी॥'* इन वचनोंमें प्रयुक्त एकवचनसे सिद्ध है। अतः 'शिव' को प्रथम कहकर जनाया कि जिन शिवको तुम सर्वान्तर्यामी तथा सर्वसेव्य मानती हो वे ही रामसेवकोंमें अग्रगण्य हैं]।

टिप्पणी—२ (क) *'अनेका'* इति। शिवजीने श्रीरामजीको *'निकाय भुवनपति'* कहा। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक शिव रहते हैं। यहाँ अनेक ब्रह्मा-विष्णु-महेशोंको सेवामें उपस्थित दिखाकर जनाया कि समस्त भुवनों और ब्रह्माण्डोंके त्रिदेव सेवामें हाजिर हुए हैं। निकाय ब्रह्माण्डोंके पृथक्-पृथक् त्रिदेव हैं, इसीसे उनके रूप भी अनेक हैं और उनके प्रभाव भी एक-दूसरेसे बढ़े-चढ़े हुए हैं। [भुशुण्डिजीने

'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥' देखा था। यहाँ लोक न दिखाकर संक्षेपमें अनेक त्रिदेव दिखाया। (वि० त्रि०)] *'बंदत चरन करत प्रभु सेवा॥'*……' इति। ☞ इस प्रसंगमें श्रीरामजीका प्रभुत्व दिखाया है, इसीसे यहाँ प्राय: 'प्रभु' शब्दका ही प्रयोग किया गया है। यथा—*'फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा।'* (५४।५)*'जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।'* (५४।६)*'बंदत चरन करत प्रभु सेवा।'* तथा *'पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेषा।'* (५५।३)

टिप्पणी—३ *'सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप'* इति। (क) प्रथम शिव, विधि और विष्णुको कहा था, अब क्रमसे तीनों शक्तियोंका नाम देते हैं। वहाँ शिव, विधि और विष्णु अनेक हैं, इसीसे यहाँ सती, विधात्री और इन्दिरा अमित हैं। वहाँ त्रिदेवके विषयमें कहा था कि *'अमित प्रभाउ एक तें एका'* वैसे ही इनको 'अनूप' कहा। 'अनूप' का भाव कि एककी उपमा दूसरेसे नहीं दी जा सकती थी। (ख) सब सतियोंको शिवसमेत चरणवन्दना करते दिखाकर जनाया कि सब शिवशक्तियाँ सब 'सती-आँ' रामभक्त हैं, एक तुम ही श्रीरामविमुखा हो।

टिप्पणी—४ त्रिदेवोंको कहकर वहीं तीनोंकी शक्तियोंको भी कहना चाहिये था, सो न करके बीचमें देवताओंको कहने लगे; यथा—*'बिबिध बेष देखे सब देवा।'*—यह क्यों ?

समाधान—प्रथम त्रिदेवको कहा। फिर और भी समस्त देवताओंको कहकर अब क्रमसे सबकी शक्तियाँ एक साथ कह रहे हैं। *'सती बिधात्री इंदिरा'*……' इस दोहेमें त्रिदेवकी शक्तियाँ कहीं। आगे *'देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥'* इस अर्धालीमें सब देवताओंकी शक्तियाँ कहीं।

टिप्पणी—५ *'जेहि जेहि बेष अजादि सुर'*……' इति। (क) भाव कि देवता बहुत वेषके हैं; यथा—*'बिबिध बेष देखे बहु देवा।'* अत: जिस-जिस वेषके देवता हैं उसी-उसी वेषके अनुकूल वेषकी उनकी शक्तियाँ हैं। (ख) *'तेहि तेहि तन अनुरूप'* इति। *'तन अनुरूप'* कहनेका भाव कि वेषके अनुकूल वेष है और तनके अनुकूल तन है। दोनों बातें जनानेके लिये 'तन' और 'वेष' दोनों शब्द दिये। यहाँ 'वेष' का अर्थ है 'शृङ्गार'। जैसा शृङ्गार अजादिका है, वैसा ही उनकी शक्तियोंका है। जैसा तन ब्रह्मादिका है वैसा ही तन शक्तियोंका है। तात्पर्य कि अष्टभुजके साथ अष्टभुजा शक्ति है, सहस्रभुजके पास सहस्रभुजा शक्ति है। (वि० त्रि० का मत है कि यहाँ 'वेष' से अभिप्राय रूप, भूषण और वाहनसे है।) [श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि सप्तशती चण्डीपाठमें भी इसी भावका यह श्लोक है—'**यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम्। तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ॥**' (अ० ८)] यदि ऐसा न हो तो सब शक्तियाँ एक तरहकी हो जायँ। एक ही तरहका वेष हो तो भ्रम हो जाय कि किस देवताकी कौन शक्ति है। अतएव सबके भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाये। (रा० प्र०) [अथवा, *'तेहि तेहि तनु अनुरूप'* का भाव यह है कि जिस ब्रह्माण्डमें जिस प्रकारके देवता और जिस प्रकारकी उनकी शक्तियाँ हैं, उसी-उसी रूप और वेषमें यहाँ प्रभुके समीप हैं। इससे तात्पर्य इतना ही मात्र है कि सतीजीने जिन देवताओं और शक्तियोंको इस ब्रह्माण्डमें देखा है उनको वे प्रभुके समीप देखकर पहचान लें कि ये वही हैं, और अपने पतिको भी पहचान लें जिससे उनको विश्वास हो जाय कि हम सबोंके भी स्वामी ये हैं, नहीं तो सब दृश्य दिखाना व्यर्थ हो जाता। यह बात जरूरी नहीं है कि पञ्चमुखी, चतुर्मुखी या चतुर्भुजी आदि देवताओंकी शक्तियाँ भी उतने ही मुख या भुजाओंकी हों] (ग) यहाँ सेवकोंको शक्तिसमेत दिखानेमें भाव यह है कि सतीजी तो श्रीरामजीको शक्तिहीन समझी हुई हैं और रामजी अपने चरितसे उनको दिखाते हैं कि हम शक्तिमान् हैं और हमारे सब सेवक भी शक्तिमान् हैं। न हमको कभी शक्तिका वियोग होता है, न हमारे सेवकोंको।

नोट—१ दोहेके पूर्वार्द्धमें *'सती बिधात्री इंदिरा'* कहा। उसीके अनुकूल उत्तरार्द्धमें 'शिवादि सुर' कहना चाहिये था, सो न कहकर 'अजादि सुर' कहा गया। इसका एक भाव ध्वनिसे यह निकलता है कि अब तुम शिवपत्नी नहीं रह गयी, तुम्हारा त्याग होगा। पं० श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि यहाँ 'सती' का अर्थ 'सच्ची पतिव्रता' करके यह विशेषण 'विधात्री' और 'इन्दिरा' में लगना चाहिये; क्योंकि

इस समय सतीजी शिवजीके साथ नहीं हैं। प्र० स्वामी भी द्विवेदीजीसे सहमत हैं कि शिवजीके साथ दक्षकुमारी नहीं हैं। वि० त्रि० श्रीसतीजीका भी होना कहते हैं।

नोट—२ सर्वत्र अपनेको श्रीसीतालक्ष्मणसहित दिखाकर प्रभुने अपनेको व्यापक जनाया। *'सेवहिं सिद्ध मुनीस'*'''''' से *'भुवननिकायपति'* होना पुष्ट किया। *'देखे शिव'''''सब देवा'* से *'मायाधनी'* होना सिद्ध किया और विष्णुको भी सेवा एवं वन्दना करते दिखाकर अपनेको परब्रह्म साबित किया। इस प्रकार सतीजीको पतिके समस्त वचनोंका प्रत्यक्ष प्रमाण देकर पतिके वचनोंमें प्रतीति करायी। (मा० प०)

नोट—३ खर्रेमें लिखा है कि *'देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका'*'''''''' यह कौतुक सतीजीके पूर्वके *'संकर जगतबंद्य जगदीसा॥ ''''''''तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।'* इस भ्रमको दूर करनेके हेतु दिखाया गया।

नोट—४ *'आगें रामु सहित श्रीभ्राता'* से लेकर इस प्रसंगभरमें 'तृतीय विशेष' अलंकार है। जहाँ एक ही वस्तु युक्तिसे बहुत ठौर वर्णन की जाय जैसे यहाँ एक 'राम, लक्ष्मण, सीता' अनेक ठौर दिखाये गये वहाँ यह अलङ्कार होता है।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥ १॥
जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥ २॥
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा॥ ३॥

अर्थ—(उन्होंने) जहाँ-तहाँ जितने रघुपति देखे, उतने-ही-उतने समस्त देवता शक्तियोंसहित (प्रभुकी सेवामें वहाँ-वहाँ) देखे॥ १॥ संसारमें जितने जड़ और चेतन जीव हैं, वे सब अनेक प्रकारके देखे॥ २॥ (देखा कि) देवता लोग अनेकों वेष धारण किये प्रभुका पूजन कर रहे हैं (पर) श्रीरामजीका दूसरा रूप नहीं देखा॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'देखे जहँ तहँ रघुपति जेते।'*'''''''' इति। पूर्व देवताओंको कहा, शक्तियोंको न कहा था, अब शक्तियोंको भी कहते हैं। पूर्व देवताओंको देखना कहा, अब रघुपतिको देखना कहते हैं। ऊपर कहा है कि *'बिबिध बेष देखे सब देवा'*, इसीसे यहाँ *'सकल सुर'* कहा। *'सकल'* अर्थात् तैंतीस कोटि। *'जहाँ जितने रघुपति देखे तहाँ'*'''''' का भाव कि इतने रघुपति थे कि तैंतीस कोटि देवता पृथक्-पृथक् पूजा कर रहे हैं।

नोट—१ *'जहँ तहँ'* के अर्थ दो प्रकारसे हो सकते हैं। एक तो, *जहँ तहँ*=जहाँ-तहाँ, इतस्ततः, इधर-उधर। यथा—*'जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोचु।'* (सुं० ११) अथवा, *जहँ तहँ*=सर्वत्र, सब जगह, यथा—*'जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तन राम बियोग।'* (उ०) दूसरे, *जहँ तहँ=जहाँ*''''''' वहाँ। पं० रामकुमारजीने दूसरा अर्थ रखा है। 'जहाँ-जहाँ ही दृष्टि पड़ी वहाँ-वहाँ सर्वत्र' यह अर्थ उत्तम है।

नोट—२ *'रघुपति'* से दशरथात्मज रामजीका बोध कराया और यह भी जनाया कि राजकुमाररूप ही सर्वत्र था। ☞ यह शब्द देकर *'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा'* इस शिववाक्यकी पुष्टि की। किसी-किसीका मत है कि *'रघुपति'* कहनेसे चराचरस्वामित्वका बोध हो गया। विश्वकोषके '**रघुर्जीवात्मबुद्धिश्च भोक्ता भुक् चेतनस्तथा**' के अनुसार सम्पूर्ण जड़ एवं चेतनमात्रकी *'रघु'* संज्ञा है। इसीसे संसारमात्रके चराचर जीवोंसे सेवित जनाया।

नोट—३ बैजनाथजीका मत है कि 'प्रभुका परम प्रकाशमय रूप सतीजीकी दृष्टिमें समा गया है अथवा सर्वत्र व्याप्त है; इससे उनको दिशा-विदिशा जहाँ देखती हैं तहाँ, रामरूप ही दिखाता है।' परन्तु *'निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा।'* (५४। ३) से इसका विरोध होता है।

टिप्पणी—२ *'जीव चराचर जो संसारा।'*'''''''' इति। (क) शंका—'सिद्ध, मुनीश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और समस्त देवी-देवताओंकी सेवा, वन्दन वा पूजन करना कहा गया। पर चराचरका देखना कहते हैं, सेवा करना नहीं लिखते; यह क्यों ?' समाधान—यहाँ सेवाका प्रकरण चल रहा है। इस प्रकरणके बीचमें

चराचर जीवोंको लिखकर जनाया कि ये भी सेवा कर रहे हैं। चर और अचर सभी श्रीरामजीके सेवक हैं; यथा—*'सेवहिं सकल चराचर जाहीं।'* अथवा, दूसरा समाधान यह है कि सिद्ध, मुनि और त्रिदेव आदि देवता सेवाके अधिकारी हैं, अतएव इनकी सेवा कही। और सब चराचर श्रीरामजीकी सेवाके अधिकारी नहीं हैं; इसीसे चराचर जीवकी सेवा नहीं कही।—[सब चराचर सेवाके अधिकारी नहीं हैं इसमें हम सहमत नहीं हैं। अयोध्याकाण्डमें पृथ्वी, वृक्ष, मेघ, तृण आदिकी सेवाका वर्णन है जो जड़ हैं तब भला चेतन जीव अधिकारी क्यों न होंगे?]—इसपर प्रश्न होता है कि 'तब बीचमें चराचर जीवका उल्लेख क्यों किया गया ?' उत्तर यह है कि श्रीशङ्करजीने पूर्व जो सतीजीसे कहा है कि *'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ०।'* (५१) उसको यहाँ चरितार्थ किया है। समस्त भुवनोंके छोटे-बड़े चराचर जीव उपस्थित दिखाकर *'भुवननिकायपति'* होना सिद्ध किया है। (ख) *'जो संसारा'* इति। इस समय प्रभु दण्डकारण्यमें हैं। दण्डकवनमें भी चर और अचर पशु, पक्षी और वृक्ष आदि हैं *'जो संसारा'* कहकर जनाया कि दण्डकारण्यके ही चराचर जीव देखे यह बात नहीं, सारे संसारके चराचर जीव उसी जगह प्रभुके समीप देखे गये। (ग) *'सकल अनेक प्रकारा'* इति। समस्त ब्रह्माण्डोंके छोटे-बड़े जीव यहाँ हैं; इसीसे अनेक प्रकारके हैं। कर्मानुसार जीवोंके अनेक प्रकारके शरीर होते हैं और ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्डमें भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं।

नोट—४ बैजनाथजी लिखते हैं कि भुशुण्डिरामायणमें कल्प-कल्पमें और-और किस्मके नर आदिका वर्णन है। श्रीसुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि 'यहाँ श्रीरामजीका विराट्‌रूप दिखाते हैं। संसारमें जंगम और स्थावर जितने प्राणी थे वे अपने-अपने कर्मानुसार विविध प्रकारके देख पड़े।' (मा० प०)

टिप्पणी—३ *'पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेषा।'''''''* इति। (क) पूर्व देवताओंका वेष कहा, यथा—*'बिबिध बेष देखे सब देवा।'* (५४) अब उनकी सेवा कहते हैं। (ख) ब्रह्मादि देवताओंका वेष कहा, चराचरका वेष नहीं कहा, क्योंकि इनका वेष नहीं होता। इनकी अनेक किस्में होती हैं, ये अनेक प्रकारके होते हैं, अतः इनके प्रकार कहे—*'देखे सकल अनेक प्रकारा।'*

टिप्पणी—४ *'रामरूप दूसर नहिं देखा।'* इति। (क) श्रीरामजीका रूप एक ही प्रकारका कहा और आगे उनका वेष भी एक ही प्रकारका बताते हैं; यथा—*'सीतासहित न बेष घनेरे।'* और समस्त देवताओं और उनकी शक्तियोंके रूप और वेष अनेक प्रकारके कहे; ऐसा करके जनाया कि श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी कारण हैं और सब कार्य हैं। कारण एक प्रकारका है और कार्य अनेक प्रकारके हैं। (ख) सबके बहुत वेष कहे गये। इससे पाया गया कि श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजीके भी बहुत बेष होंगे। अतः उस अनुमानका निषेध करते हुए कहते हैं कि श्रीरामजीके बहुत रूप नहीं हैं और न बहुत वेष हैं, केवल एक ही सर्वत्र है। (ग) पुनः, *'राम रूप दूसर नहिं देखा'* का तात्पर्य यह है कि विशेष देवके पास विशेष रामरूप होगा और सामान्यके पास सामान्य होगा ऐसा नहीं, किंतु सबके पास श्रीरामजी एक ही प्रकारके हैं।

नोट—५ श्रीरामचन्द्रजीकी आकृति और वेष सर्वत्र एक ही रहा। इससे जनाया कि श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं और सब परतन्त्र। श्रीरामजी शुभाशुभ कर्मोंसे निर्लिप्त हैं और चराचर जीव कर्मोंके बन्धनमें हैं, जैसा कर्म करते हैं वैसा तन फल भोगनेके लिये पाते हैं। यथा—*'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई॥'''''''कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'* (१।१३७ नारदवाक्य)। *'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू। करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥'''''''अगुन अलेप अमान एक रस।'* (२।२१९ सुरगुरुवचन) '**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।' इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते॥**' (गीता ४।१४)—(बै०, मा० प०)

नोट—६ *'दूसर नहिं'* अर्थात् कहीं भी भेद न था। श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि चराचर प्राणी तो अपने कर्मोंके वश अनेक प्रकारके देख पड़े। श्रीरामजी अखण्ड अविनाशी सच्चिदानन्द, व्यापक, अन्तर्यामी, मायापति, कर्मसे निर्लिप्त और अद्वितीय हैं; इसीसे सर्वत्र रामजीकी आकृति एक ही थी, कहीं रत्तीभर भेद न था। उनके साथ श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी भी एक ही चालके देख पड़े।

नोट—७ भुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे ऐसा ही कहा है। यथा—'*भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरि जान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥*' (उ० ८१) ☞इस अद्भुत दर्शनका मिलान प्रेमी पाठक (उ० ८०—८२) से कर लें।

टिप्पणी—५ यहाँतक इस सेवा-प्रकरणमें प्रथम सिद्ध और मुनीशकी सेवा कही; यथा—'*सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना*'; फिर शिव-विष्णु और ब्रह्माजीका चरणवन्दन करना कहा, यथा—'*बंदत चरन करत प्रभु सेवा*'; तत्पश्चात् देवताओंका पूजन करना कहा, यथा—'*पूजहिं प्रभुहि देवा*......।' सिद्ध और मुनीशको प्रथम कहा, क्योंकि श्रीरामसेवामें सदा तत्पर रहना यही इनका दिन-रातका काम है। दूसरे, शिवजीने भी सेवामें इन्हींको प्रथम कहा है, यथा—'*सेवत जाहि सदा मुनि धीरा। मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं॥*' त्रिदेव, देव और चराचरको क्रमसे कहा।

अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥ ४॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥ ५॥
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूदि बैठीं मग माहीं॥ ६॥

अर्थ—श्रीसीतासहित बहुत-से रघुपति देखे (परन्तु उनके) वेष अनेक न थे, अर्थात् एक-सा ही वेष सर्वत्र था॥ ४॥ वही रघुबर (श्रीरामजी), वही लक्ष्मणजी और वही सीताजी (सर्वत्र) देखकर सतीजी अत्यन्त भयभीत हो गयीं॥ ५॥ (उनका) हृदय काँपने लगा, देहकी कुछ भी सुध न रह गयी। (वे) आँख बन्द करके राहमें बैठ गयीं॥ ६॥

टिप्पणी—१ '*अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित*......' इति। (सतीजीने अपने-अपने आगे रास्तेमें जो रूप देखा वह शक्तिसहित था, यथा—'*सतीं दीख कौतुक मग जाता। आगे रामु सहित श्री भ्राता॥*' (५४) अपने पीछे जो रूप देखा वह भी शक्तिसहित था, यथा—'*फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥*' (५४) बीचमें और जितने रूपोंका दर्शन लिखा उनके साथ शक्तिका उल्लेख नहीं किया गया—'*जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥*' इससे यह समझा जाता है कि ये रूप शक्तिसहित न थे, इसीलिये अब सबके साथ शक्तिका उल्लेखकर स्पष्ट करते हैं कि श्रीरामजी सर्वत्र शक्तिसहित देख पड़े, बिना शक्तिके कहीं नहीं हैं। वहाँ कहा था कि '*जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना*' वैसे ही यहाँ कहते हैं कि '*देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित*......।' (ख) '*न बेष घनेरे*' इति। पूर्व वेषकी सुन्दरता कही थी, यथा—'*सहित बंधु सिय सुंदर बेषा।*' यह न कहा था कि वेष बहुत नहीं हैं, सो अब कहते हैं। घनेरे वेष नहीं हैं अर्थात् सर्वत्र एक-सा ही वेष है। पुनः, भाव कि पिताका वचन है कि तपस्वी वेषसे वनवास करें, इसीसे जो प्रभाव दिखाया गया उसका भी स्वरूप तापसवेष है। यहाँ श्रीरामजीके धर्मकी स्वच्छता है।

नोट—१ यहाँ टीकाकार महात्माओंमें मतभेद है। श्रीकरुणासिंधुजी, बैजनाथजी और सूर्यप्रसाद मिश्रजीका मत एक है। उनका मत है कि सुन्दरी-तन्त्र और श्रीरामतापिनी-उपनिषद् आदिमें जो स्वरूप वर्णित है, उसीका सर्वत्र दर्शन कराया गया है। वह इस प्रकार है—(क) (**श्रीजानक्युवाच जनकं प्रति**)—'**अयोध्यान्तः-पुरे रम्ये सरयूतीरमाश्रिते। अशोकवनिकामध्ये सुरद्रुमलताश्रये॥ चिन्तामणिमहापीठे लसत्काञ्चनभूतले। कल्पवृक्षतले रम्ये रत्नगृहनिषेविते॥ सुवर्णवेदिकामध्ये रत्नसिंहासनं शुभम्। तन्मध्ये च महापद्मं रत्नजालैः सुवेष्टितम्॥ तन्मध्ये कर्णिकादिव्यं वह्निगृहविभूषितम्। तन्मध्ये चिन्तयेद्देवमिन्द्रनीलमणिप्रभम्॥ पीताम्बरं महोल्लासं तेजःपुञ्जघनावृतम्। द्विभुजं मधुरं स्निग्धं कृपापाङ्गविमोक्षणम्॥ वीरासने समासीनं श्रीरामं परमाद्भुतम्। सेव्यं जानुनि हस्ताब्जं सांख्यमुद्राविराजितम्॥ व्याख्याननिरतं सम्यग् ज्ञानमुद्रोपशोभितम्। मुकुटोज्ज्वलदिव्याङ्गलसत्कुण्डलमण्डितम्॥ नासावतंसमुक्ताढ्यं लसद्वदनपङ्कजम्। श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तादाम सुकण्ठकम्॥ रत्नकङ्कणकेयूरं**

मुद्रिकाभिरलङ्कृतम्। यज्ञसूत्राभिलषितं कटिसूत्रानुरञ्जितम्॥ रत्नमञ्जीररम्यांघ्रिब्रह्मेशविष्णुसेवितम्। कामपूर्णं कामवरं कामास्पदमनोहरम्॥''''''दिव्यायुधसुसम्पन्नं दिव्याभरणभूषितम्। स्वप्रकाशं चिदानन्दं चिन्मयानन्द-विग्रहम्॥''''''वामपार्श्वे धनुर्दिव्यं दक्षिणे तु शरस्तथा। वामकोणसमासीनामारक्तोत्पलधारिणीम्॥ दक्षकोणे तथा देवं लक्ष्मणं धृतछत्रकम्। तथा भरतशत्रुघ्नौ तालवृत्तकरावुभौ॥ रामाग्रे हनुमान्वीरो वाचयन्तः सुपुस्तकम्। तत्त्वं निरूपणं व्याख्याकर्त्तारो रावणानुजः॥' (सुन्दरीतन्त्र) पुनश्च, (ख) श्रीसनत्कुमारसंहिता— यथा— **'वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे मध्ये पुष्पमयासने मणिमये वीरासने संस्थितम्। अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वे च सद्भिः परम्। व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम्॥'** पुनश्च, (ग) यथा— श्रीरामतापिनीयोपनिषद्—**'प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासः प्रभाकरः। द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः॥ देहीदेहविभागः स्यात्सच्चिदानन्दविग्रहः।'**

टिप्पणी—२ ***'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि''''''*'** इति। (क) आगे-पीछे जो रूप देखा उनके साथ लक्ष्मणजीको भी देखना कहा गया था। बीचमें जो और दर्शन कहा उनमें लक्ष्मणजीको साथ देखना नहीं कहा गया। इसीसे अब यहाँ कहते हैं कि ***'सोइ रघुबर'***, ***'सोइ लछिमनु सीता'***, अर्थात् वही रघुवर-लक्ष्मण-सीता हैं जो पूर्व देखे थे, वही सर्वत्र हैं, तीनोंका वही एक ही रूप और वही एक ही वेष सर्वत्र है। तीनोंका तपस्वी वेष है और रूप जैसा है वैसा ही है। (ख) ***'सोइ'*** शब्द रघुवर और लक्ष्मणजीके साथ है, सीताजीके साथ नहीं है, क्योंकि पहले जब विरहमें सीताजीको खोजते फिरते थे तब केवल दोनों भाई थे, सीताजी न थीं। ***'सोइ'*** से पूर्व खोजते समयका रूप कहा, यथा—***'खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई।'*** इसीसे ***'सीता'*** के साथ ***'सोइ'*** नहीं कहा।

नोट—२ प्रायः अन्य सब महानुभावोंका मत है कि ***'सोइ'*** तीनोंके साथ है। जो आगे, पीछे देखे थे वे ही 'राम, लक्ष्मण, सीता' सर्वत्र थे। सबका रूप और वेष सर्वत्र वैसा ही था, यह कहकर जनाया कि तीनों नित्य हैं और तीनोंका सदा संयोग है। पं० सू० प्र० मिश्र लिखते हैं कि इस दर्शनसे अपनेको स्वतन्त्र और अपने अधीन श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीको स्वतन्त्र दिखाया।

वि० त्रि०—सतीजीका ध्यान प्रथम रामजीपर गया, सो जगद्व्यापी वैषम्यमें एक ही साम्य दृष्टिगोचर हुआ, रामजी सर्वत्र एक ही देख पड़े। तब सीताजीपर दृष्टि डाली तो वे भी सर्वत्र एक-सी ही देख पड़ीं अर्थात् मूलप्रकृतिमें भी कहीं भेद नहीं दिखायी पड़ा। इसी तरह लक्ष्मणजी भी सर्वत्र एक-से थे, जाग्रत्के विभुमें भी कहीं अन्तर नहीं प्रतिभात हुआ।

नोट—३ यहाँ प्रश्न होता है कि यहाँ ***'सोइ लछिमनु'*** कहकर उनका रूप और वेष सर्वत्र एक ही कहा गया है, पर उत्तरकाण्डमें तो भुशुण्डिजीके मोह-प्रसङ्गमें भरतादि सभी भाइयोंके विविधरूप कहे गये हैं, यथा—***'दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता॥''''''अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥'*** (७।८१) इन दोनोंका समन्वय कैसे होगा ?

सतीजीको सर्वत्र श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी एक ही रङ्ग, रूप, रेखाके दिखाये गये। भरत, शत्रुघ्न और दशरथ, कौसल्याजीका दर्शन सतीजीको नहीं कराया गया। और भुशुण्डीजीको जो दर्शन हुआ उसमें सीताजीका दर्शन नहीं है, पर भरतादि सभी भ्राताओं और श्रीदशरथ, कौसल्याजीका दर्शन कराया गया है। भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें इन सभीका दर्शन भिन्न-भिन्न रङ्ग, रूप, रेखाका हुआ। इसका वास्तविक कारण तो नटनागरभगवान् ही जानें। हाँ! अनुमानसे प्रसङ्ग लगानेके लिये हम यह समाधान कर सकते हैं कि प्रस्तुत प्रसङ्गमें वनवासका समय है। दोनों भाई और सीताजी ही वनमें आये हैं। सीताहरण हो चुका है। दोनों भाई उन्हें खोज रहे हैं। विलाप करते और सीताजीको खोजते-फिरते देख सतीजीको संशय हुआ कि ये न तो ब्रह्म हो सकते हैं और न सर्वज्ञ विष्णु ही। (इसके कारण ५१ (१-२) और दोहा ५० में दिये जा चुके हैं)। प्रभुको यह दिखलाना है कि सीताजी हमारे साथ ही हैं, हम दोनोंमेंसे कोई उन्हें खोज नहीं रहा है। वियोग ही नहीं हुआ तब खोजना और विलाप कैसे सम्भव है ? खोजना

आदि लीलामात्र है। लक्ष्मणजी तथा सीताजीका सर्वत्र और नित्य साथ होना तभी सिद्ध होगा जब उनका रङ्ग, रूप, रेखा सर्वत्र एक ही हो, भिन्न-भिन्न रङ्ग, रूप होनेसे समाधान न हो सकेगा। प्रस्तुत प्रसङ्गमें इन्हीं तीनोंका प्रयोजन है, इससे इन्हींका दर्शन सर्वत्र कराया गया।

भुशुण्डिजी बालरूपके उपासक हैं। वे केवल बाललीला देखा करते हैं और वह भी केवल श्रीरामजीकी। इस समय वे श्रीरामजीके साथ खेल रहे हैं और श्रीरामजी भी उनके साथ अनेक प्रकारकी क्रीड़ा कर रहे हैं—*'मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।'* (७।७७) इस क्रीड़ामें भरतादि कोई भी सम्मिलित नहीं हैं, यथा—*'तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू॥'* (७।७९) सीतामोह-प्रसङ्गमें इस लीलामें लक्ष्मणजी भी सम्मिलित हैं। भुशुण्डीजीको मोह केवल श्रीरामजीके चरित्रमें हुआ और वे रामजीको ब्रह्म जानते हैं। अतः इनके प्रसङ्गमें भरतादि भ्राताओं इत्यादिकी एकरूपता या भिन्नता समझानेवाली कोई बात है ही नहीं। बाललीलाके समय सीताजी कैसे साथ दिखायी जातीं क्योंकि अभी विवाह हुआ ही नहीं। दशरथजीका आँगन है, माता और भ्राता वहाँ उपस्थित हैं; अतः ये सब दिखाये गये। लीला विधानके अनुसार जहाँ जैसा उचित होता है, प्रभु वैसा ही दर्शन कराते हैं।

प्र० स्वामीका मत है कि 'जिन रामजीको सतीजीने देखा उस कल्पके लक्ष्मण शेषशायी क्षीराब्धिनिवासी नारायणके अवतार हैं, उनका रूप सभी ब्रह्माण्डोंमें एक ही रहता है। पर भुशुण्डि-कल्पमें लक्ष्मणजी शेषावतार हैं। प्रति ब्रह्माण्डमें शेषजीका रूप भिन्न-भिन्न है।'

'पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा' ....*'सोइ रघुबर सोइ०*..........' इति।

(१) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'इस प्रकरणमें उपासना दिखा रहे हैं। जो देवता केवल रामरूपके उपासक हैं, उनके पास अकेले श्रीरघुनाथजी दिखायी दिये। जो युगलस्वरूप श्रीसीतारामजीके उपासक हैं, उनके पास श्रीसीतारामजी युगलस्वरूप देख पड़े और जो तीनोंके उपासक हैं उनके पास श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीनों स्वरूप देख पड़े। इसीसे यहाँ तीन प्रकारके दर्शन कहे गये।—*'राम रूप दूसर नहिं देखा'*, *'अवलोके रघुपति बहुतेरे।* सीतासहित *'न बेष घनेरे'* और *'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता।'* मानसपत्रिकाका भी यही मत है।

(२) पाँड़ेजी एवं बैजनाथजीका मत है कि—'वेदोंके आधारपर हमारे आचार्योंने तीन मत प्रतिपादित किये हैं—अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत। गोस्वामीजीने 'तीनोंको रामायणके अनुकूल रखा'। अर्थात् तीनों मत यहाँ दरसाये हैं। अद्वैत—वेदान्तके अनुसार एक ब्रह्म ही नित्य है। *'राम रूप दूसर नहिं देखा'* में रामरूप ही कहकर उसमें अद्वैतमतानुसार दर्शन कहा। द्वैतमतमें केवल परमात्मा और माया नित्य माने जाते हैं। उसका दर्शन *'अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥'* इस अर्धालीमें है और विशिष्टाद्वैतमतमें ब्रह्म, जीव और माया तीनोंको नित्य माना जाता है। इस मतके अनुकूल दर्शन *'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता।'* में कहा गया है। इस मतके अनुसार ब्रह्म सदैव माया और जीवसे विशिष्ट रहता है, केवल अशेष चिन्मात्र नहीं; यथा श्रुति—**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्।**'

श्रीपाँड़ेजी और बैजनाथजीने इन अर्धालियोंमें जो अद्वैतादि मतोंका भाव कहा है उससे मेरी समझमें सम्भवतः उनका आशय यह है कि जहाँ दर्शनमें केवल रामजी हैं (अर्थात् साथमें श्रीसीता-लक्ष्मणजी नहीं हैं), उस दर्शनसे हम अद्वैतमतका सिद्धान्त ले सकते हैं कि एक ब्रह्म ही ब्रह्म है। यथा श्रुति—'**एक-मेवाद्वितीयं ब्रह्म**', '**नेह नानास्ति किञ्चन**'। जहाँ श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोका दर्शन है उस दर्शनसे हम द्वैतमतका सिद्धान्त ले सकते हैं और जहाँ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी तीनोंका दर्शन है उस दर्शनसे हम विशिष्टाद्वैतमतका सिद्धान्त ले सकते हैं।

☞ इन विचारोंसे यह भी ध्वनित होता है कि भगवान् इन सब सिद्धान्तोंमें सहमत हैं, अतः सब साम्प्रदायिकोंको चाहिये कि अपने-अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंपर अटल रहें और अन्य सिद्धान्तोंकी निन्दा न करें। कहा भी है—'**श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चैव हि।**' (श्रीमद्भागवत ११।३।२६)

(३) पं० रामकुमारजीका मत ऊपर टि० १ और २ में दिया गया है। वे सर्वत्र तीनोंका साथ होना ही निश्चित करते हैं। तथापि उन्होंने यह भी लिखा है कि '*सीतासहित रघुपति*' यह द्वैत है और '*सोइ रघुबर ………*' यह विशिष्टाद्वैत है। और '*जीव चराचर जो संसारा। ………*' इसपर लिखते हुए उन्होंने यह भी लिखा है—'जो प्रभाव दिखाया सो कैसे? केवल ब्रह्म है, प्रकृति पुरुष है और माया जीवसहित है'—ये तीन प्रकारसे प्रभाव दिखाया।

(४) प० प० प्र० का मत है कि '*जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।*' (५४। ६) से '*रामरूप दूसर नहिं देखा।*' (५५। ३) तक केवलाद्वैतमतके अनुसार ही विश्वरूप दिखाया है। केवल ब्रह्ममें माया और जीव आदि द्वैत नहीं है यह ध्वनित किया है। '*अवलोके रघुपति ………*' में द्वैत और सांख्यमतका संग्रह है और '*सोइ रघुबर ………*' में विशिष्टाद्वैतादि मतोंका संग्रह है। माध्वादि सभी मतोंका अन्तर्भाव इसमें होता है।

टिप्पणी—३ '*देखि सती अति भई सभीता*' इति। (क) औरको देखकर भय न हुआ, श्रीराम-लक्ष्मण-सीताको देखकर भय हुआ, यह क्या बात? ऐसी बात नहीं है कि अकेले रघुनाथजीको देखकर भय न हुआ, सीतासहित देखकर भय न हुआ और तीनोंको देखकर भय हुआ। यदि यहाँ रघुपतिको देखना न कहा होता तब वैसा अर्थ समझा जाता। अथवा, यह भी हो सकता है कि (जितने दर्शन हुए) सबको देखकर डरना कहा गया। (ख) '*अति सभीत*' का भाव कि प्रथम जब अपने मृदु गूढ़ वचनोंद्वारा प्रभाव दिखाया था तब सभीत हुई थीं; यथा—'*सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोच।*' (५३) और जब कुछ प्रभाव प्रकट करके दिखाया तब '*अति*' सभीत हुईं। (जिनको अपनी माया दिखाने चली थीं, उनकी मायाका पार नहीं पा रही हैं। अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्यकी बढ़ती हुई विषमताको देखकर अत्यन्त भय उत्पन्न हुआ। वि० त्रि०) सतीजीने अपराध किये हैं, इसीसे प्रभुका प्रभाव देखकर डरीं, नहीं तो प्रसन्न होतीं। (यहाँ केवल श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीके दर्शन हुए और चराचरमात्र सेवा करता हुआ देख पड़ा, क्योंकि यहाँ तो केवल सतीजीको यह निश्चय कराना था कि हम ब्रह्म हैं, हम विष्णु नहीं हैं और हमारा नित्य संयोग है। कोई डरावने दृश्य नहीं दिखाये गये जिससे वे डरतीं। अर्जुनजीको तो भयावना दृश्य दिखाया गया था, विराट्का दर्शन कराया गया था; इससे वे डर गये थे।) अति सभीतकी दशा आगे कहते हैं।

नोट—४ '*अति सभीता*' इति '*अति सभीत*' होनेके अनेक कारण यहाँ उपस्थित हो गये हैं। एक तो पतिवचनकी अवज्ञा, दूसरे अनुचित परीक्षा लेकर पतिके इष्टका अपमान, तीसरे परीक्षामें उलटे लज्जित होना पड़ा, यह हृदयकी ग्लानि तथा चौथे श्रीरामजीका सर्वत्र अद्भुत दर्शन देख यह सोचकर कि इस महान् अपराधका फल क्या होगा। भयकी सीमा न रह गयी, वे अत्यन्त भयभीत हो गयीं।' (मा० प०, वै०) अब वे सोचती हैं कि यह क्या हुआ, हाय! अब मैं क्या करूँ ? प्रभुकी माया कहीं मुझे पागल न कर दे। (मा० प०) ☞'*सती सभीत महेस पहिं चलीं ………*' उपक्रम है और '*देखि सती अति भई सभीता*' उपसंहार है।

टिप्पणी—४ '*हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। ………*' इति। (क) [यह '*अति सभीत*' का स्वरूप है, दशा है। वैद्यकशास्त्र भी यही कहता है। डरसे कलेजा धड़कने लगता है। रुधिरका प्रवाह रुक जाता है जिससे मूर्छा हो जाती है। तब आँखें बन्द हो जानेपर भयङ्कर रूपका दर्शन जाता रहता है, इससे कुछ देर बाद चित्त स्वस्थ होनेपर होश आ जाता है। (मा० प०) वही दशा यहाँ सतीजीकी हुई।] (ख) बहुत डर जानेपर लोग स्वाभाविक ही आँखें बन्द कर लेते हैं, क्योंकि वह दृश्य देखा नहीं जाता। यथा—'*मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ।*' (उ० ८०) (ग) '*नयन मूदि बैठीं ………*' नेत्र बन्दकर बैठ जानेका भाव कि सर्वत्र श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी ही देख पड़ते हैं, सम्मुख देखा नहीं जाता इसीसे नेत्र बन्द कर लिये कि यह दृश्य दिखायी न दे। और बैठ इसलिये गयीं कि जहाँ दृष्टि पड़ती है, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे समस्त दिशा-विदिशाओंमें सर्वत्र श्रीरामजी ही समस्त सेवकोंसहित बैठे देख पड़ते हैं,

कहीं तिलमात्र चलनेकी जगह नहीं है, तब जायँ कहाँ, चलें तो कैसे चलें? अत: बैठ गयीं। *'मग माहीं'* मार्गमें ही बैठ गयीं, क्योंकि मार्गमें ही तो श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी आगे देख पड़े थे, यथा—*'सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता॥'* और कहीं किसी ओर निकलनेका रास्ता दीखता न था। (घ) ☞'नेत्र बन्द कर लेनेपर प्रभुने यह सोचकर कि आँख बन्द होनेपर भी यदि यह दृश्य इनको दिखायेंगे तो इनको बहुत क्लेश होगा, अत: भीतर न देख पड़े। नेत्र मूँदनेमें ही सतीने निर्वाह सोचा है और बहुत सभीत हैं, अत: अब न दिखायी दिये। प्रभुने सब दृश्य हटा लिया।

वीरकविजी—इस वर्णनमें सतीजीका आश्चर्य स्थायीभाव है। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी आलम्बन विभाव हैं। अनेक ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदिके भिन्न-भिन्न रूपोंमें दर्शन उद्दीपन विभाव हैं। हृदयकम्प, स्तम्भ, नेत्र बन्द करना अनुभाव हैं। मोह, जड़ता आदि संचारी भावोंसे पुष्ट होकर 'अद्भुत रस' हुआ।

बैजनाथजी—भयाग्निकी ज्वाला उठी जिससे सर्वाङ्गमें ताप-सी चढ़ गयी, हृदय काँप उठा, देह विवर्ण हो गयी। मूर्छावश देह सँभालकी सुध भूल गयी। अङ्गमें प्रस्वेद आ गया, इति 'व्याधि' दशासे नेत्र बन्दकर मार्गमें ही बैठ गयीं। भाव कि मार्ग छोड़कर अलग बैठनेका होश न रह गया। यही 'व्याधिदशा' है। यथा—*'अंगवरण विवरण जहाँ अति ऊँचे ऊसास। नयन नीर परिताप बहु व्याधि सुकेशवदास॥'*

नोट—५ जैसे अतिशय आनन्दकी बातसे सात्त्विकभाव, अश्रु, कम्प आदि शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही भय, शोक आदिसे भी दाह, कम्प, मूर्छा आदि अनुभाव शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं। सुमन्तजीकी भी ऐसी ही दशा हुई थी, यथा—*'सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। ....' जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी॥ रहैं करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥'* (२। १४४-१४५) सुमन्तजी शोकसे व्याकुल सोच रहे हैं कि मैं अवधमें जाकर सबको क्या उत्तर दूँगा इत्यादि। उनके हृदयमें दारुण दाह हुआ। अर्जुनजीकी भी महाभारतके महायुद्धके प्रारम्भमें ऐसी ही दशा हुई थी जिसका वर्णन गीताके प्रथम अध्यायमें है। यथा—**'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन:॥'** (गीता १। २९-३०) सारे शरीरमें दाह उत्पन्न हो गयी थी। श्रीदशरथजी महाराजकी भी दशा बनवासका वर माँगे जानेपर ऐसी ही हुई थी, यथा—*'माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥'* (२। २९) *'अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।'* (२। ३२) इसी तरह सतीजीको जो शोच और भय आदि इस समय हैं वे इसके पूर्व भी थे पर इससे बहुत कम थे, अत: उस समय केवल दाह था और अब यह सब प्रभाव देखनेपर वे शोच और भय अत्यन्त बढ़ गये जिससे हृदयमें कम्प और बेहोशी आदि अनुभाव उत्पन्न हो गये।

नोट—६ *तन सुधि कछु नाहीं'* इति। पं० रामकुमारजीका मत है कि इस कथनसे जाना जाता है कि यहाँसे सीतावेष जो सतीजीने धारण किया था वह छूट गया, जब तनकी सुध न रही। यथा—*'अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥'* (कि० ३) *'प्रगट बखानत राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥'* (सुं० ५२)—प्रेमसे देहकी स्मृति न रह गयी, निज तन प्रगट हो गया तथा यहाँ तनकी सुध न रहनेपर सतीकपट छूट गया। परन्तु दासकी समझमें सीतावेष उसी समय सतीजीने त्यागकर अपना रूप प्रकट कर लिया, जब मृदुगूढ़वचन सुनकर भयभीत होकर वे शिवजीके पास चलीं। इसीसे वहाँ *'सती सभीत महेस पहिं चलीं'* ऐसा कहा। दूसरे, हनुमान्‌जी और शुक-सारणके प्रसङ्गमें जैसे उनके कपटका छूटना कविने कहा वैसे ही यहाँ भी कहना चाहिये था, पर यहाँ सतीकपट छूटनेका उल्लेख कविने नहीं किया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उन्होंने पूर्व ही स्वयं ही अपना रूप कर लिया। हनुमान्‌जी आदिने अपनेसे अपना पूर्वरूप नहीं कर लिया था, वह तो प्रेम होनेसे प्रकट हो गया था। तीसरे, हनुमान्‌जी आदिपर प्रभुने यह प्रकट नहीं होने दिया कि 'हम तुमको जान गये' और यहाँ प्रभुके सामने आते ही उन्होंने अपने गूढ़ वचनोंसे तथा प्रणामसे सतीजीको बता दिया कि तुम सीता नहीं हो, प्रभुके मुखसे वचन निकलते ही उनका सीतावेश छूट जाना चाहिये, नहीं तो अधिक-से-अधिक सतीके चल देनेपर तो अवश्य ही। हनुमान्‌जीको कपि तब कहा जब उनका कपितन प्रकट हो गया। इसी तरह

शुक-सारणको बानरोंने राक्षस तब जाना जब उनका कपितन छूट गया। यहाँ उसके विपरीत है।

नोट—७ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि '*नयन मूँदि*' से व्यक्त होता है कि मायाने अपनी प्रबलता सतीजीपर खूब दिखायी।

बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥ ७॥
पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥ ८॥

अर्थ—नेत्र खोलकर फिर देखा (तो) दक्षकुमारी-(सतीजी-) को वहाँ कुछ न देख पड़ा॥ ७॥ श्रीरामजीके चरणोंमें बारम्बार सिर नवाकर वे वहाँको चलीं जहाँ कैलासपति शङ्करजी (बैठे) थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी।* ....' इति। [(क) इससे जनाया कि कुछ देर बाद होश आ गया, हृदयका कम्प दूर हुआ, वे सावधान हुईं। तब आँखें खोलीं। तनकी सुध न रह जानेसे हृदय कुछ शान्त हुआ, भय कम हुआ, तब नेत्र खोलीं। (ख) '*कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी*' अर्थात् पूर्ववाला अद्भुत दृश्य न देख पड़ा। जैसे पहले प्रभुको नरनाट्य करते, '*बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥*' देखा था, वैसे ही पूर्ववत् नरनाट्य करते अब देख रही हैं।] इससे प्रभुने जनाया कि हमारा आविर्भाव और तिरोभाव होता है, हम जन्म-मरणसे रहित हैं। पुनः भाव कि—(ग) सतीजी नेत्र बन्द करके बैठ गयी थीं। उनका नेत्र बन्द करना ही सूचित करता है कि वे इस दृश्यसे ऊब गयी हैं, घबड़ा गयी हैं, सोचती हैं कि किसी तरह यह दृश्य हमारे सामनेसे जाय, अब हम इसे देखना नहीं चाहतीं—यही उनके मनमें है, इसीसे अब दक्षकुमारीने कुछ न देखा। (घ) यहाँ श्रीरामजी न देख पड़े, इसीसे दक्षसम्बन्धी नाम दिया। दक्षको ईश्वर न देख पड़े, इसीसे उसने शिवजीसे विरोध किया।

नोट—१ 'दच्छकुमारी' के और भाव।—(क) इतना प्रभाव देख लेनेपर भी बोध न हुआ, यथा—'*मैं बन दीख राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥ तदपि मलिन मन बोधु न आवा।*' (बा० १०९) अतः दक्षसम्बन्धी नाम देकर जनाया कि परम भागवत शङ्करजीके विरोधीकी कन्या हैं, तब कैसे पूर्णबोध हो, यह अब भी झूठ बोलेंगी। (पं०) (ख) पतिका वचन सत्य न मानकर जब परीक्षा लेने चली थीं तब भी शङ्करजीने यही विशेषण दिया है। यथा—'*दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना।*' अब भी उनसे जाकर झूठ बोलेंगी, जिससे उनका अकल्याण होगा। प्रसङ्गके अन्तमें यह नाम देकर जनाया कि अब इनका सम्बन्ध पतिसे न रह जायगा, इनका कल्याण नहीं है। जो प्रभाव यहाँतक दिखाया गया और जिसलिये दिखाया गया, उसका खुलासा यहाँ दिया जाता है।

दर्शन	भाव
१ सर्वत्र श्रीसीता-राम-लक्ष्मण देख पड़े।	हम सर्वत्र हैं, तीनोंका वियोग कभी नहीं है, लक्ष्मणजी हमारे सेवक हैं और सीताजी हमारी शक्ति हैं।
२ अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेशको शक्तियोंसहित चरणवन्दन करते देखा।	ये सब हमारे चरणसेवक हैं। (हमारे अंशसे ये उत्पन्न होते हैं।)
३ **देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥**	सतीजी शक्तिका बिछोह समझी हुई हैं, अतः सेवकोंको शक्तियोंसहित दिखाया, अर्थात् हमारे सेवकोंको शक्ति-वियोग कभी नहीं होता तो हमारा कैसे होगा।
४ संसारके समस्त चराचर जीव दिखाये।	हम चराचरमात्रके स्वामी हैं।
५ सब अनेक प्रकारके परन्तु रामजी एक ही प्रकारके सर्वत्र देखे।	हम सबके कारण हैं, कारणका एक ही रूप रहता है, कार्यके अनेक रूप हैं। और सब कार्य हैं।
६ आँखें खोलनेपर कुछ न देखा।	हमारा आविर्भाव और तिरोभाव होता है। हम जन्म-मरणरहित हैं।

७-ब्रह्म केवल है, मायायुक्त है तथा जीव मायायुक्त है, यह जनाया। तीन प्रकारके उपासक हैं। तीनों उपासनाएँ दिखायीं। केवल श्रीरामकी, युगल श्रीसीतारामकी और श्रीसीताराम-लक्ष्मणकी।

☞ 'चिद्रूपा जगज्जननी श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजी सदा श्रीरामजीके साथ ही रहते हैं। यथा—**हेमामया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता। श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः॥** (२७) **दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ स धनुः पाणिना पुनः।**' (रा० ता०) अर्थात् चिद्रूपा श्रीजानकीजी स्वर्णवर्णकी, द्विभुजा, सर्वाभरणभूषिता और हाथमें कमल धारण किये हुए श्रीरामजीके साथ हैं और दाहिने लक्ष्मणजी धनुष लिये हुए हैं।

टिप्पणी—२ *'पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ..........'* इति। (क) जब परीक्षा लेने चलीं तब इनको नृपसुत समझी थीं; यथा—*'आगे होइ चलिं पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप।'* इसीसे तब उनको प्रणाम न किया था। जब प्रभाव देखकर इनको ब्रह्म जाना तब पुनः-पुनः प्रणाम करती हैं। यथा—*'बार बार नावै पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥'* (कि० ७। १४) पुनः अपना अपराध समझकर उस (अपराध) को क्षमा करानेके विचारसे बार-बार प्रणाम करती हैं। [पुनः बारम्बारका प्रणाम भय और पश्चात्तापकी भी दशा सूचित करता है। अर्जुनजी भी विराट्‌रूपका दर्शन कर भयभीत हो गये थे और अपने सारथीको भगवान् जानकर भय और पश्चात्ताप होनेसे उन्होंने भी बारम्बार प्रणाम किया और क्षमाकी प्रार्थना की है। यथा—'**ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः। प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥** (गीता ११। १४)''''**नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥** ३५॥''''**नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥** ३९॥ **तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।**' (४४) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभाव देखनेसे भ्रमका नाश हुआ। जब वे सभीत हुई तब प्रभुको दया आ गयी जिससे मोहका नाश हुआ और जीवमें शुद्धता आयी तब प्रभुको परात्पर जानकर बारम्बार मस्तक नवाती हैं।] (ख) यदि *'रामपद'* न कहते तो समझा जाता कि जितने देखे थे सबको प्रणाम करती हैं। अतः *'नाइ रामपद सीसा'* कहा।

नोट—२ 'भगवान्‌को नम्रतापूर्वक प्रणाम करनेसे सदैव कल्याण होता है, परन्तु सतीजीको तो दुःख ही भोगना पड़ा, यह क्यों? यह शंका उठाकर पंजाबीजी उसका समाधान यह करते हैं कि 'यह प्रणाम व्यर्थ न होगा। इसका फल यह होगा कि दुःख दूर होकर दुबारा पतिसंयोग प्राप्त होगा।' और सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि सतीका मन शुद्ध न था। *'पुनि पुनि'* पदसे भी यही सिद्ध होता है कि बार-बार यत्न किया पर प्रारब्धने न छोड़ा। (मा० प०)

टिप्पणी—३ *'चलीं सती जहँ रहे गिरीसा'* इति। (क) पूर्व एक बार शिवजीके पास चलना कह आये हैं। यथा—*सती सभीत महेस पहिं चलीं*''''''।' पर बीचमें बैठ गयी थीं, यथा—*'नयन मूँदि बैठीं मगु माहीं',* अब पुनः चलीं; इसीसे अब फिर *'चलीं सती'* कहा। (ख) *'गिरीसा'* (गिरिके ईश) कहनेका भाव कि अब वे गिरिका सेवन करेंगे, सतीजीसे सम्बन्ध न रखेंगे।

नोट—३ पतिके समीप जानेके प्रसंगमें यहाँ प्रारम्भमें ही यह नाम देकर जनाया कि ये प्रतिज्ञाके अटल हैं। जो मनमें ठानेंगे उसपर गिरिवत् निश्चल रहेंगे, झूठ-फरेबसे टलनेवाले नहीं, (सुधाकर द्विवेदीजी) अथवा, (ख) सतीजी जबतक लौट न आयीं तबतक वे यहीं बटतले ही बैठे रहे। अतः गिरीश-पद दिया। जैसे अगस्त्यजीके यहाँ सत्संगके लिये कुछ दिन ठहर जानेपर भी यही नाम दिया था। यथा—*कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा।'*

इति सतीमोहान्तर्गत श्रीरामप्रभावसाक्षात्कार-(अद्भुतदर्शन-) प्रसङ्ग समाप्त।

दो०—गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीछा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात॥५५॥

अर्थ—(सतीजी) पास पहुँचीं तब महादेवजीने हँसकर कुशल पूछा और कहा कि तुमने किस प्रकार परीक्षा ली ? सब बात सच-सच कहो॥५५॥

टिप्पणी—१ '*गईं समीप महेस तब*…………' इति। पास या उनके सम्मुख जब पहुँचीं तब कुशलप्रश्न किया यह गम्भीर स्वभावका द्योतक है। गम्भीर लोग उतावली नहीं करते। दूरसे ही कुशल पूछते तो गम्भीरतामें दोष आता। अथवा प्रथम सब चिन्ता रामजीपर छोड़ चुके, सब बात उनके अधीन कर चुके हैं; यथा—'*होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै* साखा॥' (५२) अतः जल्दी न की, जब समीप आयीं तब पूछा।

टिप्पणी—२ (क) '*हँसि पूछी कुसलात*' इति। सतीजी अति सभीत, संकोच—सोचवश और व्याकुल शिवजीके पास आयी हैं, यथा—'*मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥*' (१०९) दूसरे शिवजीका अनुमान यह है कि उनकी कुशल नहीं है, '*इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥*' (५२) अतः उन्होंने कुशल पूछा। ['कुसलता'=कुशल, खैरियत, कल्याण। यथा—'*बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न सुक आपनि कुसलाता॥*' (सु० ५३) '*दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।*' (१।६३) '**श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्॥** २५॥ **भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम्। शस्तं च**'—(अमरकोश काण्ड १ कालवर्ग ४) ये सब 'कल्याण' के पर्यायवाची शब्द हैं। २—शिवपुराण रुद्रसंहिताके '**अथ तां दुःखितां दृष्ट्वा पप्रच्छ कुशलं हरः। प्रोवाच वचनं प्रीत्या तत्परीक्षा कृता कथम्॥**' (२७।४५) इस श्लोकके आधारपर '*पूछी कुसलाता*……' का अर्थ होगा कि 'हरिका कुशल पूछा और प्रेमसे पूछा कि क्या परीक्षा ली। इस प्रकार हँसनेका भाव है कि सतीजीको दुःखित देखकर उनसे प्रेमसे पूछने लगे।] (ख) '*हँसि*' इति। हँसकर कुशल पूछनेका भाव यह है कि शिवजीका हृदय बड़ा सरल है। सतीजीने उनका वचन न माना। वे इस बातको मनमें किंचित् भी न लाये। उनके मनमें वचन न माननेके कारण परिहासका भाव उत्पन्न हुआ सो बात नहीं है। '*सत्य कहहु सब बात*' कहनेका भाव यह है कि सतीजी हमारा वचन झूठ मानती रहीं, उन्होंने ईश्वरको नर मान रखा था, इसलिये अब वह प्रभुका प्रभाव देखकर डरके मारे हमसे सत्य न कहेंगी और ऐसा ही हुआ भी, यथा—'*सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥*' इसीसे उन्होंने सत्य कहनेको कहा। परीक्षाका प्रकार पूछा; क्योंकि ईश्वरकी परीक्षा साधारण बात नहीं है; बड़ी कठिन है।

नोट—पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यहाँ हँसना निरादरार्थ है, क्योंकि शिवजीके मनमें खटका है कि उन्होंने कोई उपद्रव न खड़ा कर लिया हो। इसीसे वे पूछते हैं कि कौन विधिसे परीक्षा ली, सत्य-सत्य कहो और इसी विचारसे उन्होंने चलते समय उनको सावधान कर दिया था।' बैजनाथजीका मत है कि हँसे यह कि 'तुमने जान-बूझकर विष खाया है, जिससे प्राणहानिका संशय है। अतः अपना कुशल तो कहो। जैसी यहाँसे गयी थीं वैसी ही कुशलसे आयीं? तन, मन या वचन किसी अङ्गसे कोई अपराध तो नहीं किया है? 'सत्य कहो' का भाव कि तुम्हारा नाम सती है, तुम तन-मनसे पतिव्रता हो, अतः असत्य कहकर यह भी अपराध न कर बैठना।' पं० सुधाकर द्विवेदीजीका कहना है कि 'दम्पतियोंमें हास-विनोद हुआ ही करता है। इसलिये हँसकर महादेवजीने कुशल पूछा और हँसीहीमें यह भी पूछा कि किस प्रकार परीक्षा ली। महादेवजी देवासुर-संग्राममें श्रीरामजीकी मोहिनी मूर्तिसे धोखा खा चुके हैं और जानते हैं कि राम बड़े कौतुकी हैं, नारदके मुखको बन्दरका मुख कर दिया था, सो सतीके सङ्ग भी कुछ-न-कुछ खेल किया ही होगा, जिससे सतीजी लज्जित हो गयी हों। लज्जासे शायद बात छिपावें इसलिये हँसीसे कहा कि सब बात सच-सच कहो।' और सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'हँसी निरादरसूचक है। यह लोकप्रसिद्ध बात है कि अच्छी बात समझानेसे जब कोई नहीं मानता और हानि पाता है तब

वह हँसा जाता है। दूसरा भाव यह है कि तुमने जान-बूझकर विष खाया था, तुम्हें मर जाना चाहिये था सो जीती आयीं, मरी नहीं?' (मा० प०)

यह भी कारण हो सकता है कि सतीजीकी चेष्टासे वे जान गये कि ये डरी हुई हैं, डरसे व्याकुल हैं क्योंकि हमारी अवज्ञा करके गयी थीं, यदि हमें रुष्ट समझेंगी तो सत्य न बतावेंगी, अत: हँसकर जनाया कि हम रुष्ट नहीं हैं जिससे उनको शान्ति हो, डर न रहे और वह सत्य-सत्य बता दें।

श्रीलमगोड़ाजीने जो भाव *'बोले बिहँसि महेस'*.........।' (५१) पर लिखा है कि यहाँ परिहास (विनोद) है कि अच्छा! जाकर परीक्षा लो। खूब छकोगी; उसके अनुसार यहाँ *'हँसि'* में भी यह भाव होगा कि उन्होंने तुम्हें छकाया न। प्र० स्वामीका मत भी यही है। वे लिखते हैं कि सतीजी सभीत हैं, ऐसी दशामें निरादर या उपहास करना कृपासिंधु शिवजीमें असम्भव है। जैसे—*'तौ किन जाइ परीछा लेहू'* विनोदसे कहा वैसे ही यहाँ हँसी प्रेमजनित है। भाव यह है कि तुम्हारी जीत हुई कि हमारी; सत्य हो सो कहना।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि कोई कैसा ही बड़ा क्यों न हो, चूक हो जानेमें हँसीका पात्र हो जाता है।.........उत्तर देते न देखकर कहते हैं *'कहहु सत्य सब'* चूक छिपानेका प्रयत्न न करो।

सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव* सन कीन्ह दुराऊ॥ १॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं॥ २॥
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति† सोई॥ ३॥

अर्थ—सतीजीने श्रीरघुनाथजीका प्रभाव समझकर डरके मारे शिवजीसे दुराव (छिपाव) किया॥ १॥ (कहा कि) हे स्वामी! मैंने कुछ भी परीक्षा नहीं ली। (वहाँ जाकर मैंने) आपकी ही तरह (उनको) प्रणाम किया॥ २॥ जो आपने कहा वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मनमें यह पूर्ण विश्वास है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ।'*.........' इति। प्रभाव; यथा—*'जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥'* (५४। ३) से *'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि'*.....॥' (५५। ५) तक। यही प्रभाव समझकर शिवजीसे उन्होंने उसे छिपाया। प्रभाव समझकर उसे मनहीमें रखा, क्योंकि प्रभाव कहनेसे जाना जाता कि परीक्षा ली है, ब्रह्मको प्राकृत नर माना था। प्रभाव कहनेपर शङ्करजी अवश्य पूछेंगे कि क्या परीक्षा ली जो प्रभुने यह प्रभाव दिखाया। परीक्षा लेना कहें तो उससे ईश्वरमें भावराहित्य और पतिके वचनमें अविश्वास सिद्ध होता है। अतएव दुराव किया, जिसमें ये दोनों बातें छिप जायँ। यही बात आगे कहती हैं। (ख) *'भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ'* इति। शिवजीका कहा न माना। जो उन्होंने उपदेश किया था वही सत्य ठहरा। प्रथम तो पतिके वचनको न माना इस डरसे दुराव किया, उसपर भी अब उत्तर देना चाहें तो कुछ उत्तर नहीं है; यथा—*'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु रामपर आना॥ जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'* (५४) पूर्व सतीजीने स्त्रीस्वभाववश पतिके इष्ट श्रीरामजीसे दुराव किया; यथा—*'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ॥'* और अब भयवश पतिसे भी दुराव किया।

नोट—१ (क) भयके वश होनेसे प्रभावको छिपाया, यथा—*'अति भय बिकल न तुम्हहिं सुनाई।'* भय दोनों ओरसे है। एक तो प्रभाव देखकर भयभीत थीं ही, यथा—*'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥'* जैसे-जैसे उसका स्मरण हो आता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि हमने ब्रह्मसे कपट किया। दूसरे, शिवजीका डर है कि वे अब क्या कहेंगे ? लज्जाके कारण पतिका भय है। भयसे चित्त भ्रान्त हो गया, इसीसे बात छिपायी। (मा० प०) चित्त भ्रान्त हो जानेसे कुछ ठीक उत्तर न सूझा। (ख) *'पति सन कीन्ह दुराऊ'* न कहकर *'सिव सन'*.........' कहनेका भाव कि कल्याणकर्तासे कपट करनेसे अब कल्याणका कोई उपाय भी न रह गया। (मा० प०)

* प्रभु—१७२१, १७६२, छ०। सिव—१६६१, १७०४, को० राम।

† असि—को० राम। अति—और सबोंमें।

नोट—२ प्रभाव समझकर प्रसन्न होना था कि हमारा संशय दूर हो गया सो न होकर भय हुआ, यह क्यों? बाबा हरिदासजी कहते हैं कि 'प्रभाव यह समझा कि श्रीरामजी त्रिदेवके भी ईश हैं, पिता हैं। हमने उनकी स्त्रीका रूप धरा यह सुनकर शिवजी रुष्ट होकर हमको त्याग देंगे—इस भयसे झूठ बोलीं।'

टिप्पणी—२ *'कछु न परीछा लीन्हि·······'* इति। (क) परीक्षा लेनेसे दो बातें सिद्ध होती हैं जो ऊपर कहीं। उनमेंसे पतिके इष्टका अपमान छिपानेके लिये तो श्रीरामजीमें अपनी भक्ति दिखाती हैं कि ***'कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं।'*** और, पतिका अपमान छिपानेके लिये आगे कहती हैं कि ***'मोरें मन प्रतीति अति सोई।'*** (ख) यह कहनेपर कि परीक्षा नहीं ली, यह प्रश्न होता है कि 'तब गयीं किसलिये?' क्योंकि पूर्व शिवजीने कहा था कि ***'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥'*** और सतीजी पतिका वचन सुनते ही तुरन्त चल दी थीं जिससे स्पष्ट है कि वे परीक्षा लेने जा रही हैं। तब परीक्षा क्यों न ली? उसपर कहती हैं कि मैंने पूर्व प्रणाम न किया था, भूल गयी थी, इससे प्रणाम करने गयी थी। (ग) ***'गोसाईं'*** का भाव कि आप अन्तर्यामी हैं, सबके मनकी जानते हैं। आप स्वयं जानते हैं कि आपके वचनोंमें मेरे मनमें अत्यन्त प्रतीति है। (घ) ***'कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं।'*** जैसे आपने प्रणाम किया था उसी तरह अर्थात् सच्चिदानन्दभावसे, ***'जय सच्चिदानन्द परधामा'*** कहकर तथा छिपकर प्रणाम किया, पास नहीं गयीं। जैसे आप पास न गये, दूरसे प्रणाम किया था वैसे ही मैंने प्रणाम कर लिया।

टिप्पणी—३ *'जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई।·······'* इति। (क) अपने जानेका कारण कहकर अब ***'कछु न परीछा लीन्हि'*** का हेतु कहती हैं कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपका वचन असत्य नहीं हो सकता तब परीक्षा क्यों लेती? परीक्षा न लेना जो कहा इस झूठ बनानेका हेतु भय है और वे कहती हैं दूसरी बात जो झूठ है। (ख) ***'जो तुम्ह कहा'*** अर्थात् श्रीरघुनाथजी ब्रह्म हैं, ब्रह्महीने गुसरूपसे (भक्तके वचन सत्य करनेके लिये) अवतार लिया है, वे योगियों तथा आपके इष्ट हैं, इत्यादि ***'जासु कथा कुम्भज रिषि गाई'*** से ***'निजतन्त्र नित रघुकुलमनी।'*** (५१) तक जो आपने कहा वह सत्य है। मेरे मनमें उन वचनोंपर अत्यन्त विश्वास है। (ग) ***'मृषा न होई'*** इति। मृषा नहीं है—ऐसा नहीं कहतीं, किंतु ***'न होई'*** कहती हैं। क्योंकि 'मृषा नहीं है' इस कथनसे परीक्षा लेना खुल जाता। उसका अर्थ यह होता कि परीक्षा ली तब जाना कि ब्रह्म हैं, नहीं तो बिना परीक्षा कैसे जाना कि झूठ नहीं है। अतः ***'न होई'*** कहा। इससे परीक्षा न लेना पाया गया। (घ) ***'मोरें मन प्रतीति अति सोई'*** इति। 'मनमें प्रतीति है' कहनेका भाव कि मैंने इस बातको आपसे प्रकट नहीं किया। [विश्वासका स्थान मन है। यथा—**'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।'** बा० मं०]

तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥४॥
बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूँठ कहावा॥५॥

अर्थ—तब शङ्करजीने ध्यान धरकर देखा। सतीजीने जो चरित किया वह सब जान लिया॥४॥ फिर (उन्होंने) श्रीरामजीकी मायाको प्रणाम किया जिसने प्रेरणा करके सतीहीसे झूठ कहला लिया॥५॥

टिप्पणी—१ *'तब संकर देखेउ धरि ध्याना।'* इति। (क) इससे स्पष्ट है कि शिवजीको सतीजीके वचनपर विश्वास न हुआ। वे समझ गये कि ये झूठ कह रही हैं। यों तो सतीजीकी सभी बातें सन्देह उत्पन्न करनेवाली हैं फिर भी *'जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति सोई॥'*— यह वचन विशेष शङ्काजनक है। इसीसे इन वचनोंको सुनते ही शङ्करजीका ध्यान करना कहा गया। ***'तब'*** अर्थात् जब उन्होंने यह कहा कि *मोरें मन·······।'* विश्वास न होनेका कारण यह था कि पहले तो बहुत समझानेपर और वह भी बार-बार समझानेपर भी न माना था और यह कहते ही कि *'तौ किन जाइ परीछा लेहू'* तुरत परीक्षा लेने चल दी थीं, उस समय भी यह न कहा कि 'परीक्षा क्यों लेंगी? आपके वचन असत्य नहीं हो सकते हैं।' गयीं तो परीक्षा क्यों न ली? पहले तो हमारे वचनको झूठ माना था, वचनमें प्रतीति

न थी। अब इतनी शीघ्र कैसे सत्य मान लिया? बिना परीक्षा ही हमारे वचनोंमें प्रतीति कैसे हो गयी? दोनों बातें परस्पर असम्बद्ध हैं। दूसरे, इनकी चेष्टासे भय और विषाद प्रकट हो रहा था। वह भी सन्देह उत्पन्न करनेवाला था। अत: शङ्करजीने ध्यान धरकर देखा। (ख) अपने शरीरमें ही समस्त ब्रह्माण्ड है, ध्यान करनेसे सब देख पड़ता है। (ग) शङ्करजीने सतीजीका चरित ध्यान धरकर देखा तब जाना। इससे चरितकी अगाधता दिखायी। यथा—'**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥**' '**स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्य:।**'

टिप्पणी—२ '*सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना*' इति। (क) स्त्रीके कपटकी 'चरित' संज्ञा है, यथा—'*नारि चरित जलनिधि अवगाहू।*' (२।२७) इसीसे यहाँ 'कपट' को 'चरित' कहा। पूर्व कहा था कि '*सती कपटु जानेउ सुरस्वामी*' वैसे ही अब यहाँ कहते हैं कि '*सती जो कीन्ह चरित सबु जाना।*' इस तरह 'चरित' और 'कपट' पर्याय हैं। [कपट और चरित पर्याय नहीं हैं। परन्तु यहाँपर सम्भवत: पण्डितजीका यह आशय हो सकता है कि '*सती कपट*' में कपटका अर्थ कपटी आचरण ही है और '*सतीं जो कीन्ह चरित*' के चरितका भी वही अर्थ है। यह आशय लेकर उन्होंने पर्याय माना है। पूर्वके 'कपट' और यहाँके 'चरित' में हमारी समझमें कुछ भेद है। वह यह कि श्रीरामजीका लक्ष्य सतीजीके केवल 'कपट' पर है कि ये हमें छलनेके विचारसे आयी हैं और शिवजीका ध्यान उनके 'चरित' पर है कि इन्होंने सीतारूप धारण किया न कि उनके कपटपर। परीक्षाके लिये कपट तो वे कर ही सकती थीं, इसीलिये यहाँ 'चरित' शब्द दिया और वहाँ कपट। पूर्व बताया गया है कि अभिप्राय साधनार्थ अपने असली रूपको छिपाना 'कपट' है। वहाँ असली रूप छिपाया गया और सीतारूप बनाया ही नहीं गया, किंतु उस रूपसे श्रीरामजीके सम्मुख जाकर अपनेको सीता प्रकट किया—यही सब 'चरित' है।] (ख) '*सबु जाना*' इति। सतीजी झूठ बोल रही हैं यह तो वचन सुनते ही जान गये थे। उन्होंने क्या चरित किया था, वह सब ध्यान धरनेपर जाना। (ग) ☞ यहाँ वक्ता दिखाते हैं कि सतीजीने मन, कर्म और वचन तीनोंसे कपट किया। '*जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति सोई॥*' यह मनका कपट है, क्योंकि मनमें प्रतीति नहीं है और कहती हैं कि मनमें प्रतीति है। '*सती कीन्ह सीता कर बेषा*', '*पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप*', यह तन (कर्म) का कपट है और झूठ बोलना यह वचनका कपट है। '*प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा*'—'*झूठ कहावा*' यह वचन है।

नोट—१ '*धरि ध्याना*' इति। यहाँ ब्रह्म और (ईश्वरकोटिके) जीवमें भेद दिखाते हैं। ब्रह्म सब बात निरावरण देखता और जानता है, वह स्वत: सर्वज्ञ है। और, भगवत्कृपाप्राप्त पुरुष स्वत: सर्वज्ञ नहीं है, वह प्राय: साधन (ध्यान आदि) द्वारा ही कोई बात जान सकता है। श्रीरामजीने सहज ही सतीकपट जान लिया था। उसी कपटके जाननेके लिये शिवजीको ध्यानावस्थित होना पड़ा। श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि जैसे तारकी क्रिया जाननेवाला जबतक उस क्रियाको न करेगा तबतक दूसरेका समाचार न जानेगा, इसी तरह योगी लोग जबतक ध्यानकी क्रिया नहीं करते तबतक दूसरेके कामको नहीं जान सकते। श्रीशङ्करजी योगीश्वर हैं और भगवान् योगेश्वर हैं—यह भेद है।

प० प० प्र०—(क) यह 'ध्यान धरना' योगकी एक प्रक्रिया है। पातञ्जलयोग विभूतिपादमें संयमसे प्राप्त तीस सिद्धियोंका वर्णन है। इसमें १६वें सूत्रमें कहा है—'**परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।**' धर्म, लक्षण और अवस्था—इन तीन परिणामोंमें चित्तका संयम करनेसे अतीत (भूतकालीन) और अनागत (भविष्यकालीन) घटनाओंका प्रत्यक्ष दर्शन हृदयमें होता है। किस स्थानमें क्या हुआ या होनेवाला है, यह जाननेके लिये सूर्यमें संयम करना पड़ता है। '**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।**' (२६) (ख) सती चरित जाननेके लिये योगीश्वर महेशको भी योगकी प्रक्रियाका अवलम्ब लेना पड़ा, तब अन्य जीवोंकी बात ही क्या है। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सतीजीने छिपाना चाहा, इसलिये शिवजीको ध्यान करना पड़ा, नहीं तो बिना ध्यान किये ही पूर्व सतीके मनकी बात जान ली थी। यथा—'*हर अंतरजामी सब जाना।*')

टिप्पणी—३ *'बहुरि राममायहि सिरु नावा।.........'* इति। (क) जब सतीजीको उपदेश न लगा तब शिवजीने उसका कारण हरिमायाबल ही जाना था, यथा—*'लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहँसि महेसु हरिमायाबलु जानि जिय॥'* और, जब झूठ बोलीं तब मायाको प्रणाम किया। इस सूक्ष्मभेदसे सूचित करते हैं कि यह काम उस कामसे कठिन था। ईश्वरका स्वरूप अगाध है, इससे वह न समझ पड़ा, उपदेश न लगा, यह मायाका कोई विशेष बल नहीं है। पर देवता झूठ नहीं बोलते। उसपर भी भगवती सती पतिव्रताशिरोमणि! उनका झूठ बोलना तो महा अगम था, असम्भव था, सो उनसे भी झूठ कहला दिया, यह मायाका विशेष बल है जो यहाँ प्रत्यक्ष देखनेमें आया। (ख) श्रीरघुनाथजीने अपनी मायाको परम प्रबल समझकर उसके बलकी प्रशंसा की और शिवजीने अपने इष्ट और (उनकी) मायाका बल जानकर उसे प्रणाम किया। सतीजी झूठ बोलनेवाली कदापि नहीं, पर उन्हें भी उसने प्रेरकर झूठ बुला लिया, यह बल समझकर मस्तक नवाया। (ग) यहाँतक मायाके बलके सम्बन्धमें तीन बातें कहीं। एक यह कि मायाका बल हृदयमें जाना, यथा—*'बोले बिहसि महेस हरिमायाबल जानि जिय।'* दूसरे, मायाको प्रणाम किया। तीसरे प्रणामसे हृदयमें बखानना भी जना दिया। ऐसे ही मायाका बल सभी बखानते हैं। यथा—*'निज मायाबल हृदय बखानी'*—(श्रीरामजी), *'सुनि बिरंचि रामहि सिरु नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा॥ मन महुँ करै बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ज्ञाता॥ हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥'* (उ० ६०) तथा *'अस कहि चले देवरिषि करत रामगुनगान। हरिमायाबल बरनत पुनि पुनि परम सुजान॥'* (उ० ५९)—रामजीकी माया ऐसी प्रबल है कि शिवजी भी उसकी प्रशंसा करते हैं।—*'हरि इच्छा भावी.........'*। (घ) *'प्रेरि सतिहि'* का भाव कि मायाने बलात् (जबरदस्ती) उनसे ऐसा कहलाया नहीं तो भला वे त्रिकालमें भी ऐसा न करतीं। *'सतिहि'* का भाव कि जब ऐसी पतिव्रताशिरोमणि शिवजीके अर्धाङ्गमें निवास करनेवालीसे झूठ कहला दिया तब अन्यकी तो गिनती ही क्या? 'सती' का अर्थ ही है 'पतिव्रता'। दबाव डालकर किसी काममें किसीको लगा देनेको 'प्रेरणा' कहते हैं। माया स्वतन्त्र नहीं है—*'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'*

हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥ ६॥
सतीं कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भएउ बिषाद बिसेषा॥ ७॥
जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथु होइ अनीती॥ ८॥

अर्थ—सुजान (परम चतुर एवं ज्ञानवान्) शिवजी हृदयमें विचार रहे हैं कि *'हरि इच्छा भावी'* बलवान् है॥ ६॥ सतीजीने सीताजीका वेष बनाया (इससे) शिवजीके हृदयमें बहुत अधिक दुःख हुआ॥ ७॥ यदि अब सतीजीसे प्रेम करूँ तो भक्तिमार्ग मिट जायगा और अन्याय होगा॥ ८॥

नोट—१ *'हरि इच्छा भावी बलवाना।..............'* इति। भागवतमें कथा है कि युवनाश्वको पुत्रप्राप्तिके लिये ऋषियोंने ऐन्द्रयज्ञ कराया। अनजानमें रात्रिमें प्याससे व्याकुल हो पुत्रोत्पन्न करनेवाला मन्त्रपूत जल जो कलशमें रखा हुआ था, उसे राजाने पी लिया। कलश खाली देख ऋषियोंने जब पूछा कि मन्त्रपूत जल क्या हो गया तब वह वृत्तान्त जाननेपर ऋषियोंने भी ऐसा ही कहा था कि—'अहो! दैवबल ही प्रधान है। और यह कहते हुए उन्होंने ईश्वरको प्रणाम किया। यथा—'**राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते। ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम्॥**' (भा० ९।६।२९) वैसे ही सतीजी गयीं तो परीक्षा लेने, पर यह आपत्ति दैवयोगसे उनपर आ पड़ी, उनका विवेक जाता रहा, उन्होंने सीतारूप धारण कर लिया, इत्यादि। इसीपर शिवजी विचारते हैं कि *'हरि इच्छा भावी'* बलवाना है।

टिप्पणी—१ *'हरि इच्छा भावी बलवाना।.........'* इति। (क) सतीजीके झूठ बोलनेमें तीन कारण हुए—हरिइच्छा, भावी और माया। इसी तरह अयोध्याकाण्डमें कहा है कि—*'पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥'* (२४४) अर्थात् इन तीनोंने मिलकर तुमसे ऐसा कराया, तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। (ख) ☞ ये तीनों प्रबल हैं। यथा—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* (१२८) (हरिइच्छा), *'हरेरिच्छा बलीयसी'*, *'सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि*

लाभु जीवन मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥' (अ० १७१) *'भूपति भावी मिटै नहिं जदपि न दूषन तोर।'* (बा० १७४) [**'अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि। तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥' 'यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः। कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत् कृष्णस्ततो विपत्॥'**] (मा० प०) इति *'भावी बलवाना'* तथा—*'निज माया बल हृदय बखानी'* (इति मायाबल)

टिप्पणी—२ (क) *'हृदय बिचारत संभु सुजाना'* इति। हृदयमें विचारते हैं अर्थात् भावीका बल कुछ कहते नहीं बनता। इससे हृदयमें विचारते हैं। हरिइच्छा, भावी और माया तीनोंका बल शिवजीके विचारमें है। वे विचारते हैं कि हरिइच्छा है इसीसे भावी बलवान् है, हमारा उपदेश कैसे लगे? जो होनहार है वही हुआ। (हृदयके विचारका) तात्पर्य यह है कि बड़े लोग दूसरोंका दोष प्रकट नहीं करते। यथा—*'निज मायाबल हृदय बखानी', 'बोले बिहसि महेस तब हरिमायाबल जानि जिय।', 'मन महँ करै बिचार बिधाता।'* (उ० ६०) तथा यहाँ *'हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत'* कहा। अथवा भावी अनिर्वचनीय है, इससे हृदयमें विचार करना कहा। ☞*'हृदय बिचारत संभु सुजाना'* देहलीदीपक है। आगेकी चौपाई और दोहेमें भी विचार ही हैं। (ख) भावीका बल जानते हैं इसीसे 'सुजान' विशेषण दिया। भावीका बल विचारनेमें भाव यह है कि उसका बल समझनेसे चित्तको संतोष हो जावे, मनमें विकार न उत्पन्न होने पावे कि सतीने हमारे इष्टका और हमारा अपमान किया। (यही भाव बना रहे कि प्रभुकी इच्छा ही ऐसी थी। ऐसा होनेवाला ही था, इसमें किसीका वश क्या ? किसीका दोष क्या? हरिमाया, हरिइच्छा, भावी बड़ी प्रबल है, उसके सामने किसीका वश नहीं चलता। नहीं तो भला सतीजी ऐसा करतीं ?)—इसीसे उनको 'सुजान' कहा। सुजान लोग इसी तरह विचार करते हैं। यथा—*'अस कहि चले देवरिषि करत रामगुनगान। हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान।'* (उ० ५९) ☞ सुजान लोग किसीका दोष नहीं समझते, वे प्रेरकका ही दोष समझते हैं। यथा—*'सुनहु भरत भावी प्रबल''''''।''''''अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥'* (अ० १७१-१७२) अतः शिवजीको 'सुजान' कहा।

टिप्पणी—३ पहले तो यह कहा कि *'बहुरि राममायहि सिरु नावा'* अर्थात् राम-मायाको प्रणाम किया और उसके पश्चात् अब *'हरि इच्छा भावी बलवाना'* कहते हैं। ऐसा कहनेमें तात्पर्य यह है कि भगवान् ही जब मायाको प्रेरित करते हैं तभी वह मोह और भ्रम उत्पन्न करती है। मोह-भ्रम होनेपर लोग अनुचित कर बैठते हैं; यथा—*'भएउ मोहु सिव कहा न कीन्हा। भ्रम बस बेषु सीय कर लीन्हा॥'* (बा० ९८)

टिप्पणी—४ *'भावी'* इति। भावी दो प्रकारकी है। एक कर्मके वशसे, दूसरी हरि-इच्छासे। कर्मकृत भावीको शिवजी मेट सकते हैं, यथा—*'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।'* परंतु श्रीहरि-इच्छाभावी बलवान् है, यह नहीं मिट सकी। यथा—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'*

नोट—२ ***भावी***=होनहार, भवितव्यता। साधारणतः भाग्यवादियोंका विश्वास होता है कि कुछ घटनाएँ या बातें ऐसी होती हैं जिनका होना पहलेसे ही किसी अदृश्य शक्तिके द्वारा निश्चित होता है। ऐसी ही बातोंको भावी कहते हैं। (श० सा०) कर्मकृत जो भावी होती है वह कर्मसे, पुरुषार्थसे मिट भी सकती है, जैसे मार्कण्डेयजीकी भावी। इसी 'भावी' को 'दैव' और 'अदृष्ट' भी कहते हैं। और जो हरि-इच्छाकृत भावी है वह अमिट है, जैसे भानुप्रतापकी भावी।*

---

* यथा—'भावी काहूँ सों न टरै। कहँ वह राहु कहँ वह रवि शशि आनि संयोग परै॥ मुनि बसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी रचि पचि लगन धरै। तात-मरन सिय हरन राम बन-बपु धरि बिपति भरै॥ रावण जीति कोटि तैंतीसो त्रिभुवन राज्य करै। मृत्यु बाँधि कूप महँ राखै भावीवश सिगरै॥ अर्जुनके हरि हितू सारथी सोऊ बन निकरै। द्रुपदसुताके राजसभा दुश्शासन चीर हरै॥ हरिश्चन्द्र सो को जगदाता सो घर नीच भरै। जो गृह छाँड़ि देश बहु धावै तउ वह संग फिरै॥ भावी के बश तीन लोक हैं सुरनर देह धरै। सूरदासप्रभु रची सु हुई है को करि सोच मरै॥' (वि० टि०) पुनश्च यथा—'ब्रह्मात्मजेनापि विचार्यदत्तं पदाभिषेकाय परं मुहूर्तम्। तेनैव रामो विगतो वनान्ते बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा॥' अर्थात् ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठजीने विचारसे श्रीरामचन्द्रजीको युवराज होनेके निमित्त जो मुहूर्त दिया था उसी मुहूर्तमें श्रीरामचन्द्रजी वनवासी हुए। इससे प्रकट है कि केवल ईश्वर-इच्छा ही बलवती है। (वि० टी०)

नोट—३ *'हरि इच्छा भावी बलवाना'* के दो अर्थ पं० रामकुमारजीने लिखे—'हरि-इच्छा और भावी दोनों बलवान् हैं' तथा 'हरि-इच्छासे भावी बलवान् है'। तीसरा अर्थ यह भी होता है कि 'हरि-इच्छारूपी भावी' बलवान् है। वीरकविजी लिखते हैं कि 'भावी' उपमेयका गुण हरि-इच्छा उपमानमें यहाँ स्थापन किया गया है, अतः यहाँ 'तृतीय निदर्शना अलंकार' है। बैजनाथजी 'हरि-इच्छामय भावी' अर्थ करते हैं।

☞ भावी-(अर्थात् सुख-दुःख देनेवाला भावी कार्य-) के दो भेद हैं—प्रबल और दुर्बल। इसका कारण दो प्रकारका है। एक प्रधान, दूसरा गौण। फिर प्रधान एवं गौणके भी दो कारण हैं—एक चेतन, दूसरा अचेतन। प्रधानमें 'चेतन' से सर्वेश्वर और विधाता तथा ग्रह आदि और 'अचेतन' से प्रारब्ध अभिप्रेत है। इन दोनोंको प्रधान कहनेका कारण यह है कि सर्वेश्वर समर्थ होनेपर भी प्रारब्धके बिना कुछ नहीं करता, यथा—*'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* और प्रारब्ध स्वयं जड़ होनेसे सर्वेश्वरके बिना कुछ कर नहीं सकता। यह भी दो प्रकारका है—प्रबल और दुर्बल। 'प्रबल' वह है जो अवश्य भोगना पड़ता है। दुर्बल वह है जो प्रायश्चित्तसे मिट सकता है। फिर इनके भी दो भेद हैं—पूर्ण और अपूर्ण। पूर्ण वह है जो कर्त्ताके यत्न बिना फल देता है। अपूर्ण वह है जो कर्त्तासे यत्न करवाके फल देता है। अपूर्ण प्रारब्धके तीन भेद हैं—इच्छाप्रारब्ध, अनिच्छाप्रारब्ध, परेच्छाप्रारब्ध। 'इच्छाप्रारब्ध' वह है जो कर्त्ताको अपनी इच्छासे यत्नमें प्रवृत्त करता है, 'अनिच्छाप्रारब्ध' वह है जो इच्छा न होते हुए भी कर्त्ता सहसा कर बैठता है। और 'परेच्छाप्रारब्ध' वह है जो दूसरेकी इच्छासे कर्त्ताको यत्नमें प्रवृत्त करता है।

गौणकारणमें 'चेतन' से मनुष्यादि (सहायक) और 'अचेतन' से काल, जड़ पदार्थ और इन सबोंका संयोग आदि अभिप्रेत है। संक्षेपमें यों कह सकते हैं—

प्रधान कारण	गौण कारण	कार्य	फल
१ ईश्वर २ प्रारब्ध	काल, संयोग आदि	भावी=होनिहार	सुख,दुःख

जब कोई असम्भव बात हो जाती है—जिसका कारण हमारी समझमें नहीं आता, तब उपर्युक्त प्रधान या गौण कारणोंमेंसे किसी कारणका या कार्यका नाम लेकर समाधान माना जाता है। कभी-कभी तो कार्य और कारण दोनोंको साथ ही कहते हैं। यथा यहाँ—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* तथा—*'होनिहार का करतार'''''''।'* इत्यादि।

नोट—४ *'संभु सुजाना'* इति। पूर्व कह आये हैं कि*'अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।'* (४९)— यहाँ 'सुजान' विशेषण देकर बताते हैं कि ये प्रभुके चरितको जानते हैं तभी तो ये इसे हरि-इच्छा ही समझते हैं कि सतीजीको मोह हुआ और वह भी ऐसा कठिन कि उसकी निवृत्तिके समस्त उपाय निष्फल ही नहीं वरंच उलटे ही पड़े। शिवजीका यही सिद्धान्त पूर्व भी दिखाया जा चुका है। पूर्वका *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा॥'* (५२।७) उपक्रम है और *'हरि इच्छा भावी'* उपसंहार है। उपदेशभागमें यह शिक्षा दे रहे हैं कि भक्तको जब कोई असमंजस आ पड़े तो उसे हरि-इच्छा मान ले, तर्क-वितर्कसे मनमें विकार न उत्पन्न होने दे। (७०।५) भी देखिये।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'शिवजी सुजान अर्थात् विज्ञानधाम और रामतत्त्वके ज्ञाता हैं। वे इस कर्तव्यताको विचारते हैं। जीव अल्पज्ञ है, अतः सतीका दोष नहीं। माया भगवान्के अधीन है अतः उसका दोष नहीं। ईश्वर तो कृपालु है, अतः उसका दोष नहीं। जीव सकाम कर्म करता है, कर्मका फल काल पाकर उदय होता है, फलका भी दोष नहीं; जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही स्वभाव पड़ जाता है। काल-कर्म-स्वभावपर प्रभुकी आज्ञा रहती है। अतएव जो हरि-इच्छामय भावी होती है, वह बलवान् है।'

टिप्पणी—५ *'सतीं कीन्ह सीता कर बेषा।''''''''''* इति। (क) पूर्व कहा था कि सतीजीने सीताजीका रूप बनाया था। यथा—*'पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप।'* (५२) और अब कहते हैं कि सीताका वेष बनाया। इससे पाया गया कि सतीजीने सीताजीका रूप और वेष दोनों बनाये। इसीसे

वहाँ रूप कहा और यहाँ वेष। अथवा, रूप और वेषको पर्यायी जनाया। वहाँ रूप कहा था उसीको यहाँ वेष कहा। (ख) *'सिव उर भएउ बिषाद बिसेषा'* इति। जिस कारण विषाद हुआ वह आगे कहते हैं—*'जौं अब करौं सती सन प्रीती।'……'* इत्यादि। (ग) 'विषाद विशेष' का भाव कि विषाद तो पूर्व ही हुआ था, अब 'विशेष' हुआ। श्रीरघुपतिका अपमान किया, अपना (शिवजीका) वचन झूठ माना—इससे सतीजीके धर्मकी हानि हुई; यह समझकर विषाद हुआ। जैसा—*'मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥'* से स्पष्ट है। और, सीतारूप धारण करनेसे हमारे धर्मको हानि पहुँचती है, हम धर्मसंकटमें पड़ गये, यह समझकर 'विशेष' विषाद हुआ। अथवा, आकर झूठ बोलीं कि परीक्षा नहीं ली, यह कपट किया। इससे विषाद और सीतारूप धारण करनेसे 'विशेष' विषाद हुआ। अथवा, सतीजीसे प्रीति करनेसे भक्ति और नीतिका नाश है और महान् पाप है तथा प्रेमका त्याग कठिन है जैसा आगे कहते हैं, यह समझकर 'विशेष' विषाद हुआ।

'जौं अब करौं सती सन प्रीती।'……' इति। यही बात आगे पुनः कहते हैं, यथा—*'परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेमु बड़ पापु।'*— यह सब शिवजीके हृदयके विचार हैं। वे विचार करते हैं; इसीसे ग्रन्थकारने दो बार लिखकर जनाया कि अपनी स्त्रीमें प्रेम करना नीति है, पर सीतारूप धारण करनेसे अब सतीजीसे प्रेम करना अनीति है। प्रेम करनेसे भक्तिपथका नाश है। प्रीति न करनेसे, प्रेम तोड़ देनेसे ही भक्तिपथ रह सकता है। रहा, प्रेमका त्याग यह कठिन है, जैसा आगे कहते हैं और माताभाव अब न मानें तो भक्ति-पथ मिटता है।

☞श्रीशिवजी श्रीरामभक्तिके भी आचार्य हैं, जगद्गुरु हैं। वे सोचते हैं कि धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये हमारा अवतार है। हम ही उसे तोड़ देंगे तो धर्म ही मिट जायगा; यथा—'**मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः…………शङ्करं।**' (अ० मं० श्लो० १) *'जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥'* (७।१०७)। (यह शिवजीने भुशुण्डिजीसे कहा है।)

दो०—परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु।
प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदय अधिक संतापु॥५६॥

अर्थ—परम पवित्र सती (अथवा परम पवित्र प्रेम) छोड़ी (भी) नहीं जाती और प्रेम करनेमें भारी पाप है। महादेवजी कुछ भी प्रकट करके नहीं कहते, (उनके) हृदयमें बहुत संताप है॥५६॥

** परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु **

नोट—१ यह पाठ सं० १६६१ का है। १७०४ की पोथी, ना० प्र० सभा और मानसपत्रिकामें भी यही पाठ है। पं० रा० कु० और द्विवेदीजीका पाठ तथा उनकी परम्पराका पाठ *'परम प्रेम तजि जाइ नहिं'* है। पं० रामकुमारजीने भी इसी परम्पराकी पोथीसे पढ़ा है। कोदोराममें *'प्रेम नहिं जाइ तजि'* पाठ है।

१६६१ के पाठका अन्वय करनेमें हम 'प्रेम' शब्दको दोनों ओर ले सकते हैं। इस तरह कि *'परम पुनीत प्रेम न जाइ तजि'* और *'किएँ प्रेम बड़ पापु।'* अर्थात् शिवजी और सतीजीका प्रेम परम पवित्र है, अतः छोड़ा नहीं जाता, पर प्रेम करनेसे महापाप है। दूसरे *'परम पुनीत'* को सतीजीका विशेषण मानकर अर्थ कर सकते हैं कि 'सतीजी परम पवित्र हैं। अतः उनको छोड़ते नहीं बनता, पर उनसे प्रेम करना महापाप है।'

'परम पवित्र प्रेम' वह है जो स्वाभाविक ही होता है। सहज स्वाभाविक प्रेम मिटता नहीं। सतीजीका प्रेम सच्चा और स्वाभाविक है जैसा कि उनके *'जो मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू॥'* (५९) इन वचनोंसे जो प्रतिज्ञापूर्वक कहे गये हैं, निर्विवाद सिद्ध है और शिवजीका भी उनमें सहज प्रेम है; यथा—*'दुखी भएउँ बियोग प्रिय तोरें।'* (७।५६)

'परम पुनीत' को सतीजीमें लगावें तो उसका प्रमाण होगा—*'बिनु अघ तजी सती असि नारी।'* ये याज्ञवल्क्यजीके वचन हैं। पं० सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'अपनी स्वाभाविक शक्ति समझकर उनको *'परम पुनीत'* कहा। स्त्रीका त्याग उसी समय हो सकता है जब वह परपुरुषगामिनी हो जाय; सो तो सतीजीने किया नहीं। उनका भाव बुरा न था।' और सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'अनेक जन्मोंसे संग होनेके कारण 'परम पुनीत' कहा है।'—विशेष *'बिनु अघ तजी सती असि नारी।'* (१०४।७) में देखिये। बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'सतीमें अघ नहीं है। सीतारूप धारण पाप नहीं है। क्योंकि श्रीरामजी तो सबके सच्चे पति हैं। व्रजमें गोपिकाएँ प्रमाण हैं, परंतु शिवजीको (स्त्रीभावसे अब सतीजीको ग्रहण करनेमें) दोष लगता है।' (शीलवृत्ति) श्रीरामजीमें प्रेम करनेमें पातिव्रत्य भङ्ग नहीं होता। प्रमाण (शिवसंहिता) यथा—'**स च सीतापतिः श्रीमान् जडजीवविलक्षणः। वेदवेदान्तसर्वार्थो योगिनां परमागतिः॥ एतस्मिन् कीर्तिते ध्याते श्रुते वाप्यर्चितेऽर्थिते। पातिव्रत्यक्षयो नैव सतीनामपि जायते॥**' (मा० प०)

श्रीशिवजी भी सतीजीको उन अपराधोंके लिये जो उनसे हुए, दोष नहीं देते। वे इसको *'हरि इच्छा भावी'* और 'राममाया' के ही माथे धरते हैं।*

नोट—२*'परम पुनीत न जाइ तजि'* अर्थात् सतीजी परम पुनीत हैं, उनका शिवजीके चरणोंमें परम पवित्र प्रेम है और शिवजीका भी उनमें वैसा ही प्रेम है। अतः वे त्यागयोग्य नहीं हैं। *'किएँ प्रेम बड़ पाप'* अर्थात् श्रीसीताजी जगज्जननी हैं, श्रीरामवल्लभा हैं और अपनी इष्टदेवता होनेसे माता हैं। सतीजीने उनका रूप धारण किया और प्रभुके पास इस भावसे गयीं कि देखो मैं आ गयी अब क्यों विलाप करते हो, मैं तो आपका प्रेम देखनेके लिये छिप गयी थी। अतः वे भी मातातुल्य हुईं। मातामें स्त्रीभावसे प्रेम करना महापाप है।—इस तरह एक ओर परमप्रियका वियोग और दूसरी ओर धर्मसंकट, दोहरी चिन्तामें पड़ गये। [अथवा, *'परम पुनीत न जाइ तजि'* यह धर्म है; क्योंकि विवाहमें पाणिग्रहण करते समय प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके, तब धर्मशास्त्रानुसार पतिव्रता और परमपुनीता होनेसे त्याग करना अनुचित है। और *'किएँ प्रेम बड़ पापु',* क्योंकि प्रेम करनेसे भक्तिके सूक्ष्ममार्गको धक्का पहुँचनेकी सम्भावना है। इस प्रकार दो धर्मसंकटोंमें पड़े हैं कि ऐसा न हो कि प्रेमके कारण कहीं मैं अपने परम धर्मसे डिग जाऊँ]।

टिप्पणी—१ (क) *'प्रगटि न कहत महेसु कछु'* इति। (अर्थात् सतीजीसे अपने हृदयके विचारों तथा सतीजीके अपराधको कहते नहीं, हृदयमें ही रखे हैं) *'प्रगट'* न कहनेका भाव आगे सतीजीके वचनोंसे स्पष्ट है कि शिवजी *'परम अगाध'* हैं और *'कृपासिंधु'* हैं। यथा—*'कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥'* (५८) वे समझते हैं कि कहनेसे सतीको बड़ा कष्ट होगा। *'कछु'* का भाव कि सतीजीका सब चरित जान गये तब भी कुछ नहीं कहते। (ख) *'हृदय अधिक संतापु'* इति। भाव यह कि हृदयका दुःख कह डालनेसे विषाद कम हो जाता है, यथा—*'कहेहू ते कछु दुख घटि होई।'* पर शिवजी कुछ भी प्रकट नहीं करते, इसीसे भीतर-ही-भीतर बहुत संताप है। पुनः भाव कि प्रथम तो सतीजीके झूठ बोलनेका विषाद हुआ, उससे अधिक दुःख सीतावेपरूप धारण करनेका हुआ और अब उससे भी 'अधिक संताप' भक्तिपथके निर्वाहकी चिन्तासे हो रहा है। पुनः भाव कि सतीजीके हृदयमें भी संताप उत्पन्न हुआ था, यथा—*'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'* (५४) उससे अधिक दाह शिवजीके हृदयमें है।

नोट—३ यहाँ शिवजीके गम्भीर स्वभावका दर्शन कराया गया। 'हितोपदेश' में उनकी दशा इस प्रकार दर्शायी गयी है।—'**मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम्। न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति॥**' अर्थात् समुद्रमें डूबता हुआ मनुष्य सर्पका अवलम्बन पाकर न तो उसे छोड़ता है न पकड़ता है, वैसे ही मैं इस समय असमञ्जसमें पड़ा हूँ।

* 'परम प्रेम' का अर्थ पं० रा० कु० जी 'सहज प्रेम' लिखते हैं। सहज प्रेम मिटता नहीं, यथा—'मोरशिखा बिन मूरिहू पलुहत गरजत मेह।' (दोहावली) वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ 'परम प्रेम' के दो अर्थ हैं—'पहला सतीके प्रति और दूसरा भक्तिके प्रति। अर्थात् भक्ति परम प्यारी है, वह छोड़ी नहीं जा सकती और सतीसे प्रेम करनेमें पाप है।'

तब संकर प्रभुपद सिरु नावा। सुमिरत रामु हृदय अस आवा॥ १॥
एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥ २॥
अस बिचारि संकरु मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा॥ ३॥

अर्थ—(जब बहुत संतप्त हुए और कुछ निश्चय न कर सके कि क्या करना चाहिये) तब शङ्करजीने प्रभुके चरणोंमें सिर नवाया। श्रीरामजीका स्मरण करते ही (उनके) हृदयमें ऐसा (विचार) आया॥ १॥ सतीको इस तनमें (पति-पत्नीभावसे) मुझसे भेंट (अर्थात् बोलचाल-स्पर्श-विनोद आदि) नहीं (होनेकी)। शिवजीने मनमें (यह) सङ्कल्प कर लिया॥ २॥ धीरबुद्धि शङ्करजी ऐसा विचारकर श्रीरघुवीर (रामचन्द्रजी)को सुमिरते हुए घर (कैलास) को चले॥ ३॥

नोट—१ *'तब संकर प्रभुपद सिरु नावा। सुमिरत रामु'* इति। लोकरीति है कि जब एक भी उपाय नहीं सूझता तब रामजी सूझते हैं। सेवक जब सङ्कटमें पड़ता है तब स्वामीहीका स्मरण करता है। यहाँ श्रीरामपदमें सिर नवाना और उनका स्मरण करना इसी अभिप्रायसे है कि 'मैं धर्म-सङ्कटमें पड़ा हूँ, कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करूँ। (*'प्रभुपद सिरु नावा'* अर्थात्) आप मेरे प्रभु (स्वामी) हैं, मैं आपका सेवक हूँ, मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, प्रभु ही अपने सेवकोंके सोच-सङ्कटको दूर करते हैं। हे राम! मैं आपका स्मरण करता हूँ। आप सबके *'उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'* आप सबके उरप्रेरक हैं, यथा—*'उरप्रेरक रघुबंस बिभूषन।'* जो इस समय मेरा कर्त्तव्य हो वही प्रेरणा मेरे हृदयमें कीजिये। मुझे बताइये कि मैं क्या करूँ।—*'सुमिरत रामु हृदय अस आवा'* से स्पष्ट है कि इसीलिये स्मरण किया गया था कि हृदयमें कर्तव्यका विवेक उत्पन्न हो, जिससे दोनों काम बनें। और हुआ भी ऐसा ही। शङ्करजीके स्मरणका प्रभाव यह हुआ कि मनमें तुरंत यह बात स्फुरित हो आयी कि 'जीवात्मा तो अविनाशी है, केवल देहहीसे नाता है। सतीजीने इस देहसे सीतारूप धारण किया, इसलिये इस देहसे प्रेम न किया जाय।' ☞ स्मरण रखना चाहिये कि शुद्ध प्रेमभावसे भगवान्‌को प्रणाम और साथ ही उनका स्मरण करनेसे वे अवश्य सेवकका दुःख हरते हैं। (मा० प०) यथा—*'राम प्रनाम महामहिमा खनि सकल सुमंगलमनि जनी।'*

प० प० प्र०—*'प्रभुपद सिरु नावा'* इति। *'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं। जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥'* इन पदसरोजोंको ही मानसिक प्रणाम किया। *'सुमिरत रामु'* से रामनामका उच्चारण समझना चाहिये; क्योंकि *'प्रभुपद'* में रामरूपका अन्तर्भाव होता है। यहाँ रामनाम-स्मरणसे उपक्रम और *'चले भवन सुमिरत रघुबीरा'* से उपसंहार किया है।

टिप्पणी—१ पं० रामकुमारजी—श्रीरामजीका स्मरण करते ही उन्होंने प्रेरणा की, क्योंकि वे उरप्रेरक हैं। क्या प्रेरणा हुई सो आगे लिखते हैं। स्मरण करते ही प्रभुने सोच दूर किया, हृदयमें विवेक हुआ।

जब सतीजी झूठ बोलीं तब शिवजीने मायाको सिर नवाया कि तू बड़ी प्रबल है और जब सीतारूप धरा तब प्रभुपदमें शीश नवाया कि हमारे धर्मकी रक्षा कीजिये।

माया भी स्त्री और सतीजी भी स्त्री। यद्यपि स्त्री स्त्रीको नहीं मोहित कर सकती है तथापि माया तो नर्तकी है, उसने सतीजीको नचा ही डाला। उसने ब्रह्मादिको नचा डाला। यथा—*'सुनि बिरंचि रामहि सिरु नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा॥ हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥'* (७।६०) *'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'* (७।७२) कहीं हमको भी न नचावे, यह सोचकर सिर नवाकर प्रभुका स्मरणकर उन्हीं मायापति प्रभुकी शरण गये।

टिप्पणी—२ *'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।* ……'इति। (क) ऊपर कहा *'हृदय अस आवा'* *'कस आवा?'* ' क्या आया? क्या प्रेरणा हुई? सो न लिखकर संकल्प लिख रहे हैं। इससे जनाया कि जो संकल्प मनमें कर रहे हैं वही बात प्रभुकी प्रेरणासे हृदयमें आयी थी। अर्थात् सतीतनमें प्रेम न करो,

उनके दूसरे शरीरमें प्रेम करना—ऐसा हृदयमें आया। उसीका संकल्प किया, यदि हृदयमें आना पृथक् लिखते और फिर संकल्प करना पृथक् लिखते तो एक अर्धाली व्यर्थमें बढ़ जाती। अतः दोनोंको एक ही जगह लिख दिया। हृदयमें जो आया, उसीका सङ्कल्प किया। [☞ग्रन्थभरमें यह बात बरती गयी है कि प्रसङ्ग आनेपर घटना खोल दी जाती है, बार-बार नहीं दोहरायी जाती। जैसे *'रामानुज लघु रेख खँचाई।'*](ख) *'एहि तन'* अर्थात् सतीशरीरमें। भाव कि इस शरीरके छूटनेपर जो ये दूसरा शरीर धारण करें उसमें प्रेम करनेसे दोष नहीं। (ग) शङ्करजीको प्रेम करनेमें सोच हुआ, यथा—*'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथ* ⋯॥' क्योंकि प्रेमके त्यागका नियम नहीं है कि इतने ही दिन प्रेम करना चाहिये। परंतु अब श्रीरामजीकी प्रेरणासे नियम हो गया कि सतीके इस तनमें प्रीति न करनी चाहिये, अन्य तनमें प्रीति करना दोष नहीं—इससे शिवजीके मनमें शान्ति और संतोष हुआ। सतीजीने इस शरीरसे अपराध किया, अतः यह शरीर त्याज्य है।

प० प० प्र०—सती उमा अर्थात् शिवजीकी माया हैं—**ओ महेशस्य मा मायाशक्तिः।** माया और मायाधीश, शक्ति और शक्तिमान्‌का सम्बन्ध नित्य है, यह प्रभुनिर्मित है, इसका त्याग हो ही नहीं सकता। केवल शरीरका सम्बन्ध और उस शरीरसे पतिपत्नीभावसे प्रेम करना त्याज्य है। (यह भाव प्रायः वही है जो आगेके नोट १ में दिया गया था)

टिप्पणी—३ *'सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं'* इति। [यहाँ तालव्य शकार है। क्योंकि यहाँ उनके भारी महत्त्वकी बात कही है। सङ्कल्प वचनसे भी होता है, यथा—*'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'* (अ० ९)] यहाँ सङ्कल्प मनमें किया गया क्योंकि सङ्कल्प सतीके त्यागका है। प्रकट कहते तो उनको बड़ा दुःख होता। शिवजी करुणावरुणालय हैं, कृपालु हैं, इसीसे उन्होंने अपनी तरफसे दुःख न दिया। पुनः, मनमें सङ्कल्प करनेका तात्पर्य यह है कि प्रथम जब मनमें सोच था, कोई विचार हृदयमें नहीं आता था कि क्या करें तब भी शिवजीने कुछ न कहा, यथा ⋯⋯*'प्रगटि न कहत महेस कछु हृदय अधिक संतापु।'* (५६) और जब हृदयमें विचार स्फुरित हुआ तब भी कुछ न बोले, मनमें ही सङ्कल्प किया। इस तरह आपको संतप्त और शान्त दोनों अवस्थाओंमें एकरस दिखाया।

नोट—२ संकल्प=प्रतिज्ञा, प्रण, यथा—*'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना।'* जैसे हाथमें कुश और जल आदि लेकर मन्त्र पढ़कर लोग करते हैं जिससे वे उस कार्यके करनेके लिये बद्ध हो जाते हैं। सङ्कल्प इससे आवश्यक हुआ कि सतीजी अपनी नित्यकी शक्ति हैं। कदाचित् कभी प्रभुकी आज्ञाका उल्लङ्घन हो जाय। सङ्कल्पसे दोनों बातें बन गयीं। *'साँप मरै न लाठी टूटै।'* परम पुनीत सतीका त्याग कठिन था सो भी रहा, क्योंकि दूसरे शरीरमें फिर सङ्ग होगा। सदाका त्याग न हुआ क्योंकि नित्यकी शक्ति थीं और प्रेम करनेसे पाप था सो भी निभा, क्योंकि जिससे पाप हुआ उसीका सङ्ग छूटा। भक्तिपथमें भी अन्याय न हुआ, धर्मकी मर्यादा बनी रह गयी। स्थूल शरीरका त्याग हुआ, आत्मस्वरूपका नहीं। (रा० प्र०, मा० प०)

टिप्पणी—४ *'अस बिचारि संकरु मतिधीरा।* ⋯⋯' इति। (क) *'अस बिचारि'* अर्थात् जो विचार श्रीरामजीकी प्रेरणासे हृदयमें आया उसी विचारका मनमें संकल्प करके। (ख) *'मति धीरा'* इति। भाव कि पूर्व मति व्याकुल थी, हृदयमें विचार करते थे, यथा—*'हृदय बिचारत संभु सुजाना'* पर शान्ति न होती थी; क्योंकि तब कोई विचार मनमें न आता था। अब श्रीरामजीकी प्रेरणासे जब विचार आया तब *'धीर'* हुई। जो विचार प्रभुने दिया उसीमें अपनी बुद्धिको स्थिर किया, इसीसे *'मतिधीर'* विशेषण दिया। (ग) शिवजीने सतीतनके त्यागका सङ्कल्प किया। इसीसे ग्रन्थकारने भी सतीका त्याग अपनी चौपाइयोंमें दिखाया है। ☞यहाँसे वे शिवजीका अकेले चलना लिख रहे हैं, यथा—*'अस बिचारि संकरु मतिधीरा', 'बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा।'* इसके पूर्व सतीसहित लिख आये हैं; यथा—*'संग सती जगजननि भवानी', 'चले भवन सँग दच्छ कुमारी'* तथा *'चले जात सिव सती समेता।'* सती सङ्गमें हैं, यह अब नहीं लिखते।—यह

त्यागका लक्ष्य है। (घ) विचार प्रभुने दिया, अतः उसका मनमें सङ्कल्प किया और उसी विचारसे मतिको धीर किया। इस तरह मन और बुद्धि दोनोंको श्रीरामजीकी आज्ञामें लगाना कहा। इसी तरह *'सुमिरत राम हृदय अस आवा'* अर्थात् श्रीरामजीके स्मरणसे ही सन्ताप मिटा। विकल थे सो सावधान हुए। अतः *'चले भवन सुमिरत'* अर्थात् उन्हीं आर्तहरण भगवान् रामका स्मरण करते घरको चले। (यह कृतज्ञता है।)

नोट—३ *'मतिधीरा'* के और भाव। शक्तिका वियोग दुःसह है फिर भी उनके त्यागमें कुछ भी संकोच न किया और न किञ्चित् क्लेश माना। वियोग स्वीकार किया पर भक्तिपथको बिगड़ने न दिया वरंच दृढ़ रखा। अतः 'मतिधीर' कहा। पुनः, 'मतिधीर' इससे कहा कि अच्छी बात उनके हृदयमें बैठ गयी। इस आचरणसे शिवजी जीवोंको श्रीरामभक्तिमें दृढ़ करते हैं, शिक्षा देते हैं कि आधे अङ्गको भी अलग कर देना अच्छा है पर भक्तिपथका बिगाड़ना उचित नहीं। (मा० प०)

टिप्पणी—५ (क) *'चले भवन'* से जनाया कि सतीजीके आनेपर और उनसे प्रश्न करनेपर सोचमें पड़ गये थे, चलना भूल ही गया था। जब बुद्धि स्थिर हुई तब चले। *'भवन'* कैलास है, यथा—*'भवन कैलास आसीन कासी।'* यह आगे स्पष्ट है, यथा—*'बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा।'* (ख) *'सुमिरत'* इति। शिवजी ज़बतक वटतले बैठे रहे तबतक नाम जपते रहे, यथा—*'अस कहि जपन लगे हरिनामा।'* और जब चले तब स्मरण करते चले। इससे पाया गया कि शिवजीका सब काल भजनमें ही बीतता है, निरन्तर नामस्मरण होता है। यथा—*'संतत जपत संभु अबिनासी।'* पुनः, सब दशामें नामस्मरण दिखाया। पहले व्याकुल-दशामें स्मरण करते रहे अब बुद्धि स्थिर होनेपर भी स्मरण कर रहे हैं। दुःख और सुख दोनोंमें स्मरण होता रहता है। पुनः, [भाव कि इस समयका स्मरण धन्यवादका है कि स्मरणमात्रसे हमारा धर्मसङ्कट मिटाया। (सुधाकर द्विवेदी)] (ग)—*'सुमिरत रघुबीरा'* इति 'रघुबीर' शब्दसे जनाया कि राक्षसोंको मारनेके लिये धनुष-बाण धारण किये जिस वेषसे वनमें विचर रहे हैं उस रूपका स्मरण करते चले।

नोट—४ पंजाबीजी लिखते हैं कि रघुवीरके स्मरणका भाव यह है कि शिवजीने दक्षसुताका त्याग किया। त्यागका समाचार पाकर वह कोई उपाधि खड़ी न करे। अथवा, कहीं दक्ष शाप न दे दे, जैसे रोहिणीसे प्रेम करनेपर उसने चन्द्रमाको शाप दिया था। इन सबोंसे बचायें इसलिये वीररूपका स्मरण किया। पुनः भाव कि प्रतिज्ञा बड़ी कठिन है कि साथ रहते हुए भी पत्नीभाव न रखेंगे। कामादि विकार बड़े प्रबल हैं। इनसे धनुर्धारी प्रभु ही रक्षा कर सकते हैं। यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना'*............ *जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (सुं० ४७) रघुवीरसे धनुर्धर वीरस्वरूप जनाया। रक्षाके लिये स्मरण किया, इसीसे उनके संतोषके लिये आकाशवाणी हुई।

नोट—५ सतीको त्याग करना कठिन है और सङ्कल्प करना भी कठिन है। इसीसे इन दोनोंकी आगे प्रशंसा करते हैं। यथा—*'सिव सम को रघुपतिब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥'*— यह सतीत्यागकी प्रशंसा है। *'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ भगवाना॥'* यह प्रणकी प्रशंसा है।

चलत गगन भै गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई*॥ ४॥
अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। राम भगत समरथ भगवाना॥ ५॥

अर्थ—चलते ही सुन्दर आकाशवाणी हुई। 'महेश! आपकी जय हो!' आपने अच्छी तरह भक्तिको दृढ़ किया॥ ४॥ आपके सिवा दूसरा कौन ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है? आप रामभक्त हैं, समर्थ हैं और षडैश्वर्यसम्पन्न हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'चलत गगन भै गिरा सुहाई'* इति। (क) चलते ही आकाशवाणी हुई। इससे जनाया कि रामभक्तिका 'ओर निबाहनेसे' अर्थात् साङ्गोपाङ्ग निर्वाह करनेसे प्रशंसा होती है। शिवजीने परमपुनीत सतीकी अपेक्षा भक्तिको अधिक श्रेष्ठ समझा, भक्ति-पथको दृढ़ किया, इसीसे देवता प्रसन्न होकर जय-

* पाठान्तर—दिढ़ाई—भा० रा०।

जयकार करके बधाई दे रहे हैं; प्रशंसा कर रहे हैं कि आपने बड़ा भारी काम किया। भारी काम करनेसे प्रशंसा होती ही है। शिवजीने मनमें सङ्कल्प किया। आकाशवाणीने मनकी बात जानकर कही। (ख) *'गिरा सुहाई'* इति। यहाँ सुहाई विशेषण दिया। अन्यत्र 'गम्भीर' विशेषण दिया गया है। गम्भीरता ही वाणीकी शोभा है। इस तरह यहाँ 'सुहाई'=गम्भीर। यथा—*'गगनगिरा गंभीर भइ हरन सोक संदेह।'* (१८६) पुनः 'सुहाई'=सुन्दर। आकाशवाणी शिवजीके मनकी हुई, अतः *'सुहाई'* है।

नोट—१ प्र० स्वामीका मत है कि यह आकाशवाणी न तो देवताओंकी है और न ब्रह्मादिकी, क्योंकि जिसका पता साक्षात् जगज्जननी सतीको नहीं लगा जो अत्यन्त समीप थीं, उस सङ्कल्पका जानना ब्रह्मादि देवताओंको असम्भव है। ब्रह्म-(श्रीराम-) की वाणी भी यह नहीं हो सकती, क्योंकि श्रीरघुनाथजीने अपने भक्तोंकी प्रशंसा जहाँ-जहाँ की है वहाँ कहीं भी 'जय' शब्दका प्रयोग नहीं है। अतः निश्चय ही यह वाणी 'राममाया' की है, जिसे शिवजीने प्रणाम किया और जिसने सतीजीको सीता बननेकी प्रेरणा की तथा उनसे झूठ कहलवाया।

इस आकाशवाणीका हेतु क्या है? इसका मुख्य हेतु है सतीजीको राम-सम्मुख करना, रामभक्त बनाना, सम्पूर्णतया शिवानुकूल बना देना। राममायाने रामभक्त बनाने आदिका यह अमोघ उपाय रच दिया। यदि गगनगिरा न होती तो परित्यागकी कल्पनाका सतीजीके मनमें आना असम्भव था। सतीजी यही समझतीं कि शिवजी समाधिमग्न हैं। उनको अपनी करनीका पश्चात्ताप न होता। आकाशवाणीसे सिद्ध होता है कि सतीजी शिवसङ्कल्पको अनुमानसे जान लेंगी और सुदीर्घकालतक जब उनका हृदय पश्चात्तापादिसे जलता रहेगा तब वह शुद्ध हो जायगा और वे रघुनाथजीकी शरण लेंगी।

टिप्पणी—२ आकाशवाणी यद्यपि सुहाई है तथापि उसे सुनकर जगदम्बा सतीजीको तो सोच ही उत्पन्न हो गया; यथा—*'सुनि नभगिरा सती उर सोचा'* [इसका कारण यह है कि सतीजीके हृदयमें पाप था। उन्होंने अपराध किया था, इसीसे उनको सोच हुआ, नहीं तो वह तो उत्तम बात थी, प्रशंसाके योग्य थी, इसीसे आकाशवाणीने उसकी प्रशंसा की। इसी तरह जब देवता, सिद्ध, साधु और मुनि भरतजीकी भक्तिकी प्रशंसा कर रहे हैं, यथा—*'देखि दसा सुर बरसहिं फूला।* अ० २१६।'............*'सिद्ध साधु मुनिबर अस कहहीं। भरतहिं निरखि हरषु हिय लहहीं॥'* (२१७)।—ठीक उसी समय उनकी यह दशा देखकर इन्द्रको सोच हो रहा था। यथा—*'देखि प्रभाउ सुरेसहि सोचू॥'*—उसपर कविने जो आलोचना की वह यह है—] *'जगु भल भलेहि पोच कहुँ पोचू।'* अर्थात् जो जैसा होता है उसको वैसा ही सूझता है। वही बात यहाँ हुई। (ख) *'चलत गगन भै गिरा सुहाई'* यहाँसे आकाशवाणीका प्रारम्भ है और *'जदपि सती पूछा बहु भाँती'* पर समाप्ति है। (*'भै गिरा सुहाई'*) उपक्रम है। *'सुनि नभगिरा'* उपसंहार है। (आकाशवाणी तीन चरणोंमें है)

टिप्पणी—३ *'जय महेस भलि भगति दृढ़ाई'* इति। (क) *'जय महेस'* का भाव कि भक्तिकी दृढ़तासे ही आप महान् ईश हैं, देव-देव हैं; सबसे आपका उत्कर्ष बढ़कर है। [पुनः भाव कि—'क्यों न हो! आप महेश ही हैं, देवदेव हैं, ऐसा करना आपके योग्य ही था। आपकी जय हो] (ख) *'भलि भगति दृढ़ाई'* इति। जो बात शिवजीके मनमें थी वही आकाशवाणीने कही।—

'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथ होइ अनीती॥' अर्थात् प्रेम करनेसे भक्तिपथका नाश होगा।	१ *'जय महेस भलि भगति दृढ़ाई।'* अर्थात् सतीके त्यागसे आपका भक्तिपथ दृढ़ हुआ।
एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥'	२ *'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना॥'*

संकल्प और पन एक ही बात है।

'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना।' इस आकाशवाणीको जब सतीजीने सुना तब उन्होंने शिवजीसे पूछा *'कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला।'*

टिप्पणी—४ *'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना'* इति। अर्थात् सती ऐसी स्त्रीको त्याग दे, भक्तिपथको न टूटने दे, ऐसा कौन रामभक्त है? यथा—*'सिवसम को रघुपतिब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥'* (भाव कि यह आपहीका काम है, दूसरा कोई इस व्रतको नहीं धारण कर सकता। यह प्रण आपके ही योग्य है। इसमें यथायोग्यका संग वर्णन करना 'प्रथम सम अलंकार' है।)

टिप्पणी—५ *'राम भगत समरथ भगवाना'* इति। ऐसा व्रत धारण करनेमें आपमें तीन बड़े बल दिखाये। अर्थात् आप रामभक्त हैं इससे सीतारूपमात्र धारण करनेसे सतीमें माताभाव मान लिया और उनको त्याग दिया। प्रणके निर्वाह करनेमें आप 'समर्थ' हैं। आप भगवान् हैं अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञानसे युक्त हैं तब तो आपने ऐसा प्रण किया है, (सामान्य) जीव ऐसा प्रण करके नहीं निबाह सकता। [प्रतिज्ञा करनेके लिये कोई भी एक गुण पर्याप्त था तब भी इतने गुण दिखाये। यहाँ दूसरा समुच्चय अलंकार है।]

सुनि नभगिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहि समेत सकोचा॥ ६॥
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला॥ ७॥
जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती॥ ८॥

अर्थ—आकाशवाणी सुनकर सतीजीके मनमें सोच हुआ। (उन्होंने) सकुचाते हुए शिवजीसे पूछा॥ ६॥ हे कृपालु! कहिये, आपने कौन प्रण किया है? हे प्रभो! आप सत्यधाम हैं, समर्थ हैं और दीनदयालु हैं॥ ७॥ यद्यपि सतीजीने बहुत तरहसे पूछा तथापि त्रिपुरारि (महादेवजीने) न बताया॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सुनि नभगिरा सती उर सोचा।'''''* इति। (क) यहाँ आकाशवाणी सुनकर सतीजीके हृदयमें सोच होना लिखा; शिवजीका कुछ हाल न लिखा। इससे ज्ञात होता है कि शिवजी अपनी प्रशंसा सुनकर सकुचा गये नहीं तो उनका हर्षित होना लिखते, जैसे सतीका सोच लिखा। सतीजीने अपराध किया है, इसीसे पूछते हुए संकोच हो रहा है। उन्होंने शिवजीसे कपट किया, उनसे झूठ बोलीं। उसके पीछे आकाशवाणी हुई; इसीसे उनको सोच हो गया। उनको शंका हो गयी; चिन्ता हुई कि कहीं हमारे त्यागका प्रण न किया हो—इसी कारण सकुचाते हुए पूछती हैं। जो अपराध करता है उसे संकोच होता ही है। अतः संकोच उचित ही है। (ख) *'पूछा सिवहि'* से स्पष्ट है कि वे शिवजीके मनकी न जान सकीं, इसीसे पूछा। (ग) *'समेत सकोचा।'* इति। पूछनेमें प्रथमहीसे संकोच हुआ, इसीसे कविने आदिमें ही 'संकोच' शब्द दे दिया। आगे जो कुछ पूछा वह सब 'संकोच समेत' है। संकोच= हिचकिचाहट, पसोपेश। [पुनः *'समेत संकोचा'* का भाव कि विवाहके समय पति प्रतिज्ञा करता है कि अर्थ, धर्म, काममें मैं इसका अतिक्रमण नहीं करूँगा। अतः पूछनेमें कोई संकोचकी बात न थी, परंतु अपराध होनेसे संकोच हुआ (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला।'* इति। (क) यहाँ सब विशेषण साभिप्राय हैं। *'कृपाला'* का भाव कि आप कृपालु हैं; क्या किसीपर कृपा हुई है? कोई कृपाका प्रण किया है? *'सत्यधाम'* का भाव कि क्या सत्यके विषयमें कोई प्रतिज्ञा आपने की है? **'प्रभु'** का भाव कि आप समर्थ हैं, क्या किसी दुष्टके वधकी प्रतिज्ञा की है? *'दीनदयाल'* का भाव कि क्या किसी दीनपर दया करने, किसी दीनको पालनेकी प्रतिज्ञा की है? कौन प्रतिज्ञा की है? पुनः भाव कि—आप 'कृपालु' हैं। अपने इस गुणसे मुझपर क्रोध न कीजिये किन्तु अपनी ओरसे मुझपर दया कीजिये। आप 'सत्यधाम' हैं अतः मुझसे सत्य ही कहिये कि क्या प्रण किया है। सतीजी शिवजीसे झूठ बोलीं, इसीसे समझती हैं कि शिवजी भी झूठ बोलेंगे इसीसे 'सत्यधाम' कहा। आप 'प्रभु' हैं, अर्थात् प्रण निबाहनेमें आकाशवाणीने आपको समर्थ कहा है; यथा—*'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ'''''* पुनः भाव कि—[यदि आप कहें कि हम प्रतिज्ञा कर चुके, वह अमिट है तो उसपर कहती हैं कि आप 'प्रभु' हैं, होनी अनहोनी करनेमें समर्थ हैं। आप 'दीनदयाल' हैं। आपकी कृपा तो जीवमात्रपर है पर दीनोंपर आपकी विशेष दया रहती है, मैं दीन हूँ। आप मुझपर दया करें। (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—'कृपाल' का भाव कि मुझपर कृपा करके *'कीन्ह कवन पन'* यह कहिये। 'सत्यधाम' हैं अर्थात् आपने जो प्रण किया है, उसका सत्य करना आपको सहज सुलभ है। मुझसे कह देनेसे उसके निर्वाहमें कोई कठिनता पैदा नहीं होनेकी; अतः कृपा करके कहिये। 'प्रभु' अर्थात् मेरे स्वामी हैं, आपको छोड़ दूसरेसे पूछना मेरे लिये असम्भव है, अतः आप कहें। *'कृपाला'* से उपक्रम करके *'दयाला'* पर उपसंहार करके जनाया कि आप सदैव मुझपर दया करते आये हैं, वैसे ही अब भी कीजिये।

टिप्पणी—३ *'कीन्ह कवन पन'*......' से स्पष्ट है कि सतीजी शङ्करजीके हृदयकी बात न जान पायीं। शङ्करजीका रुख देखकर आगे यह जान गयी हैं कि उन्होंने हमें त्याग दिया पर यह फिर भी नहीं जाना कि सीतारूप धारण करनेसे त्याग दिया है। शङ्करजी ध्यानद्वारा उनके हृदयकी सब जान गये।

टिप्पणी—४ *'जदपि सती पूछा बहु भाँती।*..........' इति। (क) *'बहु भाँती'* इति। आप कृपाल हैं, आप सत्यधाम हैं, प्रभु हैं, दीनदयाल हैं, इत्यादि विरुदावली कह-कहकर जो पूछा वही *'बहु भाँती'* का पूछना है।*[शिवजी त्रिपुरान्तक हैं, अपने लक्ष्यपर बड़े दृढ़ हैं, एक सहस्र वर्षतक त्रिपुरपर लक्ष्य बाँधे ही रह गये, उन्होंने नहीं ही कहा। यहाँ बातको खोलना और लक्ष्यसे होना एक बात थी। बातको खोलना अनुनय-विनयको अवसर प्रदान करना था, इसलिये नहीं कहा। *'बहुभाँती'* यह कि अपनी शपथ दिलायी, अपने प्रेमकी शपथ दिलायी, इत्यादि। (वि० त्रि०)] (ख) *'तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती'* इति। संकल्प न बतानेमें *'त्रिपुर आराती'* विशेषण दिया। भाव यह कि जैसे त्रिपुरके वधमें निष्ठुर हो गये थे वैसे ही अपना प्रण न कहनेमें निष्ठुर बने रहे, सतीजीके दिये हुए कृपाल, सत्यधाम आदि विशेषण न माने, अपना प्रण नहीं ही कहा।

वस्तुतः 'कृपाल' आदि सब गुण 'न कहनेमें' घटित हो रहे हैं। शिवजीने प्रण न बताया क्योंकि वे कृपालु हैं, दीनदयालु हैं। वे जानते हैं कि कहनेसे सतीजीको दुःख होगा। कृपालु होनेके कारण वे उनको अपनी ओरसे दुःख न दे सके, बल्कि उनका दुःख दूर करनेमें लग गये। यथा—*'सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। कही कथा सुंदर सुखहेतू॥'* सत्यधाम हैं और सत्य कहनेसे दुःख होगा और झूठ बोलते नहीं। अतः न कहा। 'सत्यधाम' हैं, अतः बनाकर कोई बात न कही। *'प्रभु'* हैं अर्थात् जगत्के स्वामी हैं, ईश्वर हैं। ईश्वर झूठ नहीं बोलते; यथा—*'मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई।'* [☞क्यों न कहा? इसका कारण सतीजी स्वयं अपनेसे ही कहती हैं; यथा—*'कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥'* (५८) पुनः, नीतिशास्त्रका मत है कि अप्रिय बात सत्य भी हो तो भी न कहे। यथा—**'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'** अतः न कहा। पुनः, बुद्धिमान् पराया दोष नहीं कहते; यथा—*'गुन प्रगटहिं अवगुनहिं दुरावहिं।'* इत्यादि कारणोंसे न कहा।]

भावार्थान्तर—(१) सतीत्यागसे काम और लोभ दोनोंसे शत्रुता की। सतीके अपराधपर क्रोध न किया और न मुखसे ही कुछ कहा। इस तरह काम-क्रोध और लोभ तीनोंको जीते हुए हैं। यह भाव *'त्रिपुर आराती'* कहकर जनाया।' (पाँ०, बै०) अर्थात् काम, क्रोध और लोभ ही तीन पुर हैं। सती-त्यागसे काम तथा लोभपर विजय हुई। प्रेम न करना लोभको जीतना है। अपराधपर कुछ न कहा, यह क्रोधपर विजय है। (पाँ०) पुनः, (२) *'त्रिपुरआराती'* में भाव यह है कि 'जब अपनी अर्धाङ्गिनीका ही त्याग कर दिया तब जो अन्य रामविरोधी हैं, उनके साथ शिवजीका व्यवहार कैसा होगा, यह इसीसे अनुमान कर लेना चाहिये।' (रा० प्र०) पुनः (३) 'तीनों लोकोंके रहनेवाले जो

---

* बै०—'बहुभाँती' अर्थात् 'पत्नीभाव, हासविलासकटाक्षादि करके, कदाचित् कामवश कहा, मान करके, कदाचित् हमारे मिलनेके लोभवश कहा, अथवा किञ्चित् प्रौढ़ता करके अर्थात् क्रोधवश होकर कहा, इत्यादि बहुत भाँतिसे पूछा।' हासविलासादिद्वारा पूछनेपर कामपर विजय, मानवती होनेपर क्रोध न किया और सत्यधाम आदि कहनेपर लुब्ध न हुए। अतः 'त्रिपुर आराती' विशेषण दिया।

रामभेददर्शक हैं उनके शत्रु महादेवजी हैं। शत्रुसे मनकी बात न कहनी चाहिये। अतः शिवजीने कुछ न कहा, इस हेतु त्रिपुरआराती कहा।' (सू० प्र० मिश्र) (४) 'त्रिपुरआरातीसे यह सूचना कर दी कि बड़े-बड़े राक्षसों अथवा तीनों पुरोंके संहारकर्त्ता हैं, अतः तारकासुरके मारनेके लिये कुसमय समझकर अपने प्रणको छिपा रखा कि कहीं सुनकर ये अभी प्राण न दे दें अन्यथा अनर्थ हो जायगा क्योंकि अभी तारकासुरके जन्ममें विलम्ब है, और इनके दूसरी देहका भी समय अभी नहीं है।' (सु० द्विवेदी) (५) यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि जो कठिन दुर्जय त्रिपुर-जैसे दैत्यके वैरी हैं, वे अपराधिनी सतीकी प्रार्थनापर कैसे दयालु हो सकते हैं। (वीरकवि)

दो०—सतीं हृदय अनुमान किय सबु जानेउ सर्बग्य।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य॥
सो०—जल पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि।
बिलग होइ* रसु जाइ† कपटु खटाई परत पुनि‡॥ ५७॥

अर्थ—सतीजीने हृदयमें अनुमान किया कि सर्वज्ञ (शिवजी) सब जान गये। मैंने शङ्करजीसे कपट किया। (सत्य है) स्त्री स्वभावसे ही मूर्ख और नासमझ होती है। (वक्ता कहते हैं कि—) प्रीतिकी सुन्दर रीति देखिये। जल (दूधमें मिलनेसे) दूधके समान (अर्थात् दूधके भाव) बिकता है। परंतु फिर कपटरूपी खटाई पड़ते ही (दूध-पानी) अलग हो जाता है (अर्थात् फट जाता है) और स्वाद जाता रहता है॥ ५७॥

टिप्पणी—१ *'सतीं हृदय अनुमान किय……'* इति। (क) अनुमान अवलम्बसे होता है जैसे धूमसे अग्निका अनुमान। सतीजीने अभी-अभी अपराध किये हैं और इसी समय शङ्करजीके प्रण करनेकी आकाशवाणी हुई, उसपर उन्होंने शिवजीसे पूछा पर शिवजीने न बताया। इससे अनुमान हुआ कि शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे सब कपट जान गये और प्रतिज्ञा मेरे विरुद्ध मेरे सम्बन्धमें ही कोई हुई है। (ख) 'शंभु' के भाव पूर्व आ चुके। (क) *'नारि सहज जड़ अग्य'* इति। सतीजीका दृढ़ निश्चय है कि शिवजी सर्वज्ञ हैं, यथा—*'सिव सर्बग्य जान सबु कोई', 'सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी'* तथा *'सबु जानेउ सर्बग्य।'* सर्वज्ञ जानते हुए भी कपट किया, हमें यह न सूझा कि हम इनसे कपट करती हैं, ये सब जान लेंगे—यही सहज जड़ता और 'सहज अज्ञान' है। [पुनः, हित करनेवालेसे कपट करना अपने हाथों अपने पैरमें कुल्हाड़ी मारना है। यही जड़ता और अज्ञान है। (मा० प०)]

नोट—१ ☞ जब किसीपर, अपनी ही करनीसे क्लेश आ पड़ता है, तब उसे अपने किये हुए दुष्कर्मोंका स्मरण हो जाता है। वैसा ही यहाँ हुआ। जब शिवजीने उत्तर न दिया तब सतीजी मन-ही-मन सोचने लगीं। अपनी करनीपर ज्यों-ज्यों विचार करती हैं त्यों-त्यों शोक और चिन्ता बढ़ती जाती है। अब वे सोचती हैं कि हमारे अज्ञानकी बलिहारी कि हमने अपने कल्याणकर्त्तासे दुराव किया, उस समय हमारी बुद्धिको क्या हो गया था? हमने कैसे समझ लिया कि वे हमारे कपटको न जान पायेंगे? उनकी सर्वज्ञता हमें कैसे विस्मृत हो गयी?—इसका कोई उत्तर न समझ पड़ा, सिवाय इसके कि *'नारि सहज जड़ अग्य'* है, जो शिवजीने कहा था कि *'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ'* वह बिलकुल ठीक है। स्वभाववश ही मुझे न सूझ पड़ा कि वे तो सब जान जायेंगे।

टिप्पणी—२ *'जल पय सरिस बिकाइ…………'* इति। भाव कि दूधमें मिलनेसे जल भी दूधके भाव बिकता है और उसमें दूधका रस (रंग और स्वाद) भी आ जाता है (यह दूधका भलपन है), पर खटाई पड़ते ही दूध अलग हो जाता है (दूध फट जाता है) और उस जलमें दूधका स्वाद नहीं रह

* होत—छ०, भा०, दा०, १७६२, १७२१। होइ—१६६१, १७०४, कोदवराम। † जात—भा० दा०। ‡ पुनि—१६६१। हो—१७०४, १७२१, १७२२, छ०, भा० द०।

जाता। इसी तरह कपट करनेसे सङ्ग छूट जाता है। प्रीतिरूपी रस नहीं रह जाता। [दूध फट जानेपर फिर दूध नहीं बन सकता, वैसे ही फटा हृदय फिर नहीं जुड़ता, फिर प्रेम हो ही नहीं सकता, बिगड़ा सो बिगड़ा, फिर नहीं सुधर सकता। कहा है कि *'मन मोती और दूध रस इनको यहै स्वभाव। फाटे पै पुनि ना जुड़ै करिए कोटि उपाव॥'* दूध और जलके द्वारा प्रीतिकी रीति देख पड़ती है। इसीसे कहा कि *'देखहु।'* तात्पर्य यह कि इसे देखकर ऐसी प्रीति करे, कपट न करे।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'कवि दृष्टान्त दिखाते हैं कि देखो दूध ऐसे निर्मल शिवजी (**कर्पूरगौरम्**) और जड़ (जल) सती '**किमसुभिर्ग्लपितैर्जडं मन्यसे**' इस वचनसे श्रीहर्षजीने भी '**डलयोः सावर्ण्यात्**' से 'जड़' से जल लिया है। दोनोंके अच्छी तरहसे प्रीति देखो कि दोनों मिलकर एक हो गये थे, दोनों साथ-साथ पूजे जाते थे, दोनोंकी महिमा एक समझी जाती थी, जैसे दूधमें पानी मिलनेसे पानी भी दूध ही कहा जाता है। दूधहीके भावसे दूध मिला पानी भी बिकता है पर जैसे वह खटाई पड़नेसे अलग और बिगड़ जाता है, वैसे ही यहाँ कपट करनेसे दूध-ऐसे महादेव सती जड़-(जल-) से अलग हो गये और बिगड़ भी गये।' [द्विवेदीजी *'भलि'* का अन्वय '**देखहु**' के साथ करते हैं।]

नोट—२ यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। दृष्टान्तमें दो वाक्य होते हैं। एक उपमेय वाक्य, दूसरा उपमान वाक्य। दोनोंके धर्म पृथक्-पृथक् होते हैं। दोनोंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव-सा जान पड़ता है। अर्थात् सब प्रकारकी समता जान पड़ती है। परंतु यह समता बिना वाचक शब्दोंके दिखलायी जाती है। (अ० मं०) *'जल पय सरिस बिकाइ……'* उपमेय वाक्य है, *'खटाई परत पुनि'* उपमान वाक्य है। प्रीतिसे इसकी समता बिना वाचक-(जैसे, तैसे-)के दिखानेमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव-सा झलकता है।

नोट—३ मित्रतापर भिखारीदासजीका पद मिलान-योग्य है—*'दास परस्पर प्रेम लखो गुन छीर को नीर मिले सरसातु है। नीर बिकावत आपने मोल जहाँ जहँ जायके छीर बिकातु है॥ पावक जारन छीर लग्यो तब नीर जरावत आपन गातु है। नीर की पीर निवारिये कारन छीर घरी ही घरी उफनातु है॥'* —इस पद्यमें दूधका और जलका भलपन अलग-अलग दिखा दिया गया है।

हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी॥ १॥
कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥ २॥
संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी॥ ३॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवा इव उर अधिकाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**प्रगट** (प्रकट)=खोलकर। **रुख**=मुखकी चेष्टा, कयाफा। यह फारसी शब्द है।=चेहरा, मुँह। **अकुलाना**=व्याकुल, व्यग्र और दुःखी होना। यथा—*'परम सभीत धरा अकुलानी।'*

अर्थ—अपनी करतूतको समझकर सतीजीके हृदयमें सोच और अपार चिन्ता है जो वर्णन नहीं की जा सकती॥ १॥ (वे सोचती हैं) शिवजी दयाके समुद्र और परम गम्भीर हैं (इसीसे उन्होंने) मेरा अपराध प्रकट न कहा॥ २॥ शङ्करजीके रुखसे यह देखकर कि प्रभुने मुझे त्याग दिया, भवानी सतीजी हृदयमें अकुला उठीं॥ ३॥ अपना पाप जानकर कुछ कहा नहीं जाता। (परंतु) हृदय आँवेकी तरह अधिक-अधिक तप रहा है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'हृदय सोचु समुझत निज करनी……'* इति। (क) [*'हृदय सोचु'*— सोच ही सोच चला—*'सती सभीत महेस पहँ चलीं हृदय बड़ सोच।'*, फिर *'सुनि नभगिरा सती उर सोचा'*, फिर *'हृदय सोच समुझत निज करनी।'* (त्रि० त्रि०)] *'निज करनी'* पूर्व कह आये; यथा *'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान राम पर आना॥'* इत्यादि। उसका समझना अब कहा। यथा—*'सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्बग्य। कीन्ह कपट मैं संभु सन……।'* (ख) *'समुझत'* का भाव कि अबतक अपनी करनी नहीं समझी थीं, अब अपनी करनीकी समझ आयी। अभीतक (इसके पूर्व) समझती थीं

कि शिवजी हमारा कपट नहीं समझ पाये। अब समझीं तब अपना अपराध समझकर सोच हुआ कि मैंने पतिसे कपट किया, यह मुझसे बड़ा भारी पाप हुआ और चिन्ता हुई कि इस पापका फल भी हमें आगे मिलेगा। [(ग) *'चिंता अमित……'* इति। दण्ड न प्रकट होनेसे चिन्ता बढ़ना उचित ही है। मनुष्यका स्वभाव है कि दुःख पड़नेपर अपने बुरे-बुरे कर्मोंको सोच-सोचकर अधिक घबड़ाता है। (मा० प०) हमने बड़ा बुरा किया, न जाने इसका परिणाम क्या होगा, अब अपने कियेका इलाज नहीं, यह चिन्ता है।] अपराध भारी है अतः चिन्ता भी भारी है। [चिन्ताका स्वरूप ऐसा कहा है; यथा—**'चिन्ता चिता समाख्याता किंतु चिन्ता गरीयसी। चिता दहति निर्जीवं सजीवो दह्यतेऽनया॥'** (प० पु०) पुनश्च यथा—***'चिंता ज्वाल शरीर बन दावा लगि लगि जाय। प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अंतर धुँधुआय। उर अंतर धुँधुआय जरै ज्यों काँचकी भट्ठी। रक्त मांस जरि जाइ रहै पाँजर की ठट्ठी॥ कह गिरिधर कबिराय सुनो हे मेरे मिंता। वे नर कैसे जियैं जिन्हें नित ब्यापै चिंता॥'***]

टिप्पणी—२ *'कृपासिंधु सिव परम अगाधा।……'* इति। (क) अपनी करनी समझकर अब शिवजीके गुणोंका स्मरण करती हैं कि ऐसे कृपालसे मैंने कपट किया कि जिन्होंने मेरा कपट जानकर भी मुझसे मेरा अपराध न कहा कि कहनेसे इसे दुःख होगा। कृपाका 'सिंधु' कहा, इसी सिन्धुके सम्बन्धसे 'परम अगाध' कहा, क्योंकि सिंधु 'अगाध' है। प्रभु 'परम अगाध' हैं, यह कहकर अगाधता कहती हैं। ***'प्रगट न कहेउ मोर अपराधा'*** यही अगाधता है। अपराधका न कहना गम्भीरता है। अत्यन्त कृपालुता दर्शानेके लिये ***'कृपासिंधु'*** कहा। अर्थात् अपराधीको दण्ड देना चाहिये सो तो दूर रहा, उन्होंने मुखसे भी मेरा अपराध न प्रकट किया—ऐसे दयालु! (ख)—सतीजी अब शिवजीके गुण और अपने अवगुण समझकर सोच करती हैं। इस तरह कि वे सर्वज्ञ हैं और मैं अज्ञ हूँ। वे कृपासिंधु हैं और मैं सहज ही जड़ हूँ कि मैंने उनसे कपट किया। वे परम अगाध हैं, मेरा कपट न प्रकट किया और मैं पापिनी हूँ, यथा— *'निज अघ समुझि……।'*

टिप्पणी—३ *'संकर रुख अवलोकि भवानी।……'* इति। (क) शङ्करजीका प्रेम अब सतीजीपर नहीं है जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—***'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथ होइ अनीती॥'*** रुख देखनेसे यह बात जान पड़ी, इसीसे व्याकुल हो उठीं, रुख देखकर जान गयीं कि अब हमसे प्रीतिका व्यवहार नहीं करते, हमें त्याग दिया है। अपने अपराधसे 'सोच' हुआ और त्याग समझकर 'अकुला उठीं'। क्योंकि ***'तनु धनु धामु धरनि पुरराजू। पति बिहीन सब सोक समाजू॥ भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥'*** (२। ६५)

नोट—१ ***'रुख अवलोकि'*** इति। रुख देखना यह है कि अपने वामभागमें नहीं रखा, रास्तेमें कोई प्रेमकी बात नहीं की। पं० सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि 'रुख देखकर बात जान ली। अतः ***'भवानी'*** कहा। पुनः भाव कि जैसे शिवजी गम्भीर हैं वैसे ही ये भी गम्भीर हैं क्योंकि ***'भवानी'*** हैं। त्याग होनेपर भी इन्होंने यह बात हृदयहीमें गुप्त रखीं।' और, सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि यहाँ ***'भवानी'*** का अर्थ है कि 'भव-(महादेवजी-) ने जिसके लिये 'आनी' अर्थात् शपथ किया वह सतीजी।' ***'रुख अवलोकि'*** का भाव यह है कि रुख देखकर समझ गयीं कि शास्त्रमें ब्राह्मण और स्त्रीका मारना मना है। महापापमें इन दोनोंके लिये त्यागना ही दण्ड लिखा है; इसलिये पतिने मुझे त्याग दिया। त्याग समझकर अकुला उठीं, क्योंकि स्त्रीके लिये इससे बढ़कर दुःख नहीं है। मनुने कहा है कि '**पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्**' पति ही एकमात्र शरण है, उसके त्याग देनेसे कहीं शरण नहीं। (मा० प०)

टिप्पणी—४ ***'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई'*** इति। भाव कि जब सब बात जान गयीं तब अपराध क्षमा करानेके लिये कुछ कहतीं; उसपर कहते हैं कि अपना अपराध समझकर कुछ कहा नहीं जाता। तात्पर्य कि जो अपराध क्षमा कराना है, वह तो स्वयं इन्हींने शिवजीसे छिपाया है; यथा—***'कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।'*** जब अपने ऊपर अपराध धरती ही नहीं, तब अपराध कैसे क्षमा कराते बने?

(कहनेसे दु:ख घट जाता है, पर कहें तो किससे। जिससे कहें,वह उलटे इन्हींको दोष देगा। इससे दूसरेसे भी कुछ कह नहीं सकतीं। इसीसे हृदय दु:खकी आँचसे धधकता है)।

नोट—२ इस प्रसङ्गसे उपदेश यह निकलता है कि यदि हमारे अपराधोंपर गुरुजन क्रोध न करें, दयावश देखी-अनदेखी कर जायँ तो फिर हमारा सुधार ही असम्भव हो जायगा, क्योंकि तब हमें कभी यह संदेह भी न होगा कि हमसे अपराध हुआ है और न हमें उस अपराधपर पश्चात्ताप ही होगा जो सुधारका मूल है। जैसे कि यदि शिवजी सतीजीका त्याग न करते तो न उनको पश्चात्ताप ही होता और न वे सुधरतीं।

टिप्पणी—५ *'तपै अवा इव उर अधिकाई'* इति। अघका फल ताप है, इसीसे *'अघ'* कहकर तब ताप कहा। *'अवा इव'* अर्थात् जैसे कुम्हारकी भट्ठी या नानबाईकी भट्ठीकी आग प्रकट नहीं होती वैसे ही सतीजी अपना पाप प्रकट नहीं करतीं, अघसे हृदय बहुत तप रहा है।

नोट—३ *'अवा इव'* कहकर सूचित किया कि भीतर-ही-भीतर संतापसे—चिन्ताग्निसे हृदय दग्ध हो रहा है, कोई ठौर संतापसे खाली नहीं है तथापि बाहर देखनेवालोंमेंसे कोई भी इस मर्मको नहीं जानता। पुन: भाव कि जैसे आँवेकी अग्निकी लपट भीतर-ही-भीतर घूमती है, नीचे, ऊपर या बाहर भी भभककर नहीं निकलने पाती वैसी ही गति सतीजीके अन्त:करणकी है।

सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। कही कथा सुंदर सुख हेतू॥ ५॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिश्वनाथ पहुँचे कैलासा॥ ६॥
तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन॥ ७॥
संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ ८॥

शब्दार्थ—**इतिहास**=बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंका कालक्रमसे वर्णन। महाभारत इतिहास है। (६५) (४) देखिये। **कमलासन**=पद्मासन। यह योगका एक आसन है। दोनों जंघोंपर चढ़ाकर अर्थात् दाहिने जंघेपर बायाँ पैर और फिर दाहिना पैर उसके ऊपरसे बायें जंघेपर रखे। दोनों एड़ियाँ मिली हुई हों और दोनों हाथ दोनों घुटनोंपर हों। मेरुदण्डको सीधा करके सीधे बैठते हैं यथा—'**ऊर्वोरुपरि उभयपादतलकरणपूर्वकमवस्थानं पद्मासनम्।**' '**उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नत:। ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ॥ नासाग्रे विन्यसेद्राजन् दन्तमूले तु जिह्वया। उत्तभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनै:॥ इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्**'—(४५-४६) हठयोग प्रदीपिका प्रकरण १—इस पद्मासनमें हाथ खाली रहते हैं, इससे इसमें जप भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक पद्मासन और है जो 'बद्धपद्मासन' कहलाता है। इस दूसरे आसनमें और सब परिस्थिति तो पद्मासनकी-सी ही होती है किन्तु इसमें दोनों हाथोंको पीठकी ओर ले जाकर दाहिने हाथसे दाहिने पैरका अँगूठा और बायेंसे बायें पैरका अँगूठा पकड़ा जाता है। यथा—'**वामोरुपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा दक्षोरुपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्। अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये देहव्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥**' (१।४४) शाण्डिल्योपनिषद्में बद्ध-पद्मासनके सम्बन्धमें यह श्रुति है—'**अङ्गुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च। ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्यं कृत्वा पादतले उभे। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम्॥**' (१।३) —भावार्थ एक ही है। सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि योगशास्त्रमें आसनके पाँच भेद लिखे हैं। यथा—'**पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं भद्रं वज्रासनं तथा। वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम्॥**' और पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि योगमें चौरासी आसन हैं।—'**चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।**' (हठयोगप्रदीपिका १।३३) प्र० स्वामीजी कहते हैं कि कमलासन, स्वस्तिकासन और वज्रासन (सिद्धासन) दीर्घकालतक बैठने और ध्यान-जपादिके समयमें उपयुक्त हैं। इनमें किसीको उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ नहीं कहा जा सकता। जिसकी प्रकृतिको जो सुखद हो वही उसके लिये उत्तम और श्रेष्ठ है। '**स्थिरसुखम् आसनम्**' यह व्याख्या आसनकी योगशास्त्रमें है।

अर्थ—धर्मकी ध्वजा-(शिवजी-) ने सतीजीको शोचयुक्त (चिन्तित) जानकर उन्हें सुख देनेके लिये सुन्दर कथाएँ कहीं॥५॥ रास्तेमें तरह-तरहके अनेक इतिहास कहते हुए विश्वनाथ कैलास पहुँचे॥६॥ वहाँ फिर शिवजी अपनी प्रतिज्ञा समझकर बटतले कमलासन लगाकर बैठ गये॥७॥ शङ्करजीने (अपना) सहज स्वरूप सँभाला। उनकी अखण्ड अपार समाधि लग गयी॥८॥

☞स्मरण रहे कि श्रीरामजीका रखा हुआ नाम अब वक्ता लोग भी देने लगे। *'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू'* के बाद यहाँ ही उस 'वृषकेतु' नामका प्रथम प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी—१ *'सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। ....'* इति। (क) यद्यपि सतीजी अपना सोच नहीं कहतीं, यथा—*'हृदय सोच समुझत निज करनी', 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई',* तथापि शङ्करजी जान गये। यहाँ 'सर्वज्ञ' विशेषणको चरितार्थ किया। (ख) **बृषकेतू**=जिनकी पताकामें धर्म है। भाव कि आप धर्मकी ध्वजा हैं। आप धर्मको जानते हैं, धर्मका एक पाद दया है। धर्मात्माको उचित है कि दूसरेका सोच मिटावे। इसीसे सोचयुक्त जानकर सुन्दर कथाएँ कहने लगे। अतः 'वृषकेतु' कहा।

☞सुधाकर द्विवेदीजी 'पापीसे बात करना भी दोष है पर अपने पापको समझकर सतीका हृदय अवाँ-ऐसा दहकने लगा। पापग्लानिसे हृदयके भीतरका सब पाप भस्म हो गया। भीतरसे सती शुद्ध हो गयीं। इसलिये महादेवजीने सतीसे बात करना आरम्भ कर दिया। देहकी शुद्धि तो उसके जला देनेसे ही होगी। इसलिये स्पर्शदोषके भयसे दूर रहे। इसलिये ग्रन्थकारने भी यहाँपर महादेवको 'वृषकेतु' बनाया। मार्गमें सतीके संतोषके लिये तरह-तरहके इतिहास कहे।'

टिप्पणी—२ *'कही कथा सुंदर सुख हेतू।'* इति। (क) *'कही कथा'* कथा कहनेसे रास्ता जल्दी निबुक जाता है, चुक जाता है यथा—*'पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा॥'* (अ० १२) *'सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की कहत चले चाय से'* (क०) तथा *'चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥'* (५।२८) दूसरे, दुःखकी निवृत्ति होती है। (ख) *'सुन्दर'* अर्थात् धर्मकथाएँ। जिनसे दुःख भूल जाय, मन जिनमें लग जाय और बहल जाय। (ग) *'सुख हेतू'* का भाव कि ये कथाएँ उपदेश या संदेह-निवृत्त्यर्थ नहीं कहीं, क्योंकि उपदेश तो पूर्व ही दिया था, सो लगा ही नहीं; यथा—*'लाग न उर उपदेसु .....'*; तो अब क्या लगेगा, किन्तु इस विचारसे कही कि इस समय ये हमारे गुण और अपने अवगुण समझकर बहुत चिन्तित हैं, इनका मन उधरसे हट जाय, दुःख भूल जाय और इनको सुख हो। (घ) *'कही कथा......'* से *'कृपासिंधु'* विशेषणको चरितार्थ किया। क्योंकि 'सुख हेतु' कथा कहनेसे सिद्ध हुआ कि शिवजी पराया दुःख देख नहीं सकते, इसीसे दुःख दूरकर सुख दिया। [प्रेम विशेषका त्याग किया है, सहानुभूतिका त्याग नहीं है। बोलना बन्द नहीं किया, केवल प्रतिज्ञा नहीं बतलायेंगे। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'बरनत पंथ बिबिध इतिहासा ....'* इति। (क) ऊपर कहा कि सुन्दर कथाएँ कहीं। कौन कथाएँ कहीं ? यह वहाँ न कहा था, उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं कि 'अनेकों इतिहास' कहे। *'बरनत पंथ'* का भाव कि पन्थमें कथा कही, इससे पन्थ चुक गया, रास्ता कटा। यह भी जनाया कि पन्थ समाप्त हुआ तब कथा भी समाप्त कर दी। पन्थभर कथा कही, फिर नहीं। [*'बिबिध इतिहास'* और *'बरनत पंथ'* में यह भाव भी है कि पन्थ जबतक समाप्त न हुआ बराबर इतिहासकी कथाओंका क्रम चलता रहा, कथा-प्रसङ्गकी धारा न टूटने दी, जिसमें सतीजीको कोई और बात छेड़नेका अवकाश ही न मिले]। (ख) *'विश्वनाथ पहुँचे कैलासा'* इति। इस प्रसङ्गमें *'गिरिनाथ'* या उसका पर्याय शब्द कई बार आया है। यथा—*'कहत सुनत रघुपति गुनगाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा', 'पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥'* यहाँ *'विश्वनाथ'* कहकर जनाया कि आप केवल गिरिनाथ, कैलासपति ही नहीं हैं, विश्वके भी नाथ हैं। कैलास आपका भवन है और विश्व देश है।

टिप्पणी—४ *'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन......'* इति। (क) *'तहँ पुनि'* इति। शङ्करजीने दण्डकवनमें

वटतले सतीत्यागका सङ्कल्प किया। वहाँसे अपना प्रण समझकर कैलासको चले, यथा—*'अस बिचारि संकर मतिधीरा। चले भवन।'* जब कैलासपर पहुँचे तब वहाँ पुनः अपने प्रणको विचारकर कि हमने सती-तनमें दाम्पत्यप्रेमका त्याग किया है, समाधि लगा ली। तात्पर्य कि कथा कहकर पन्थ बिताया और समाधिस्थ होकर सतीजीकी आयु बितायी, सतीजीमें प्रेम होनेका अवकाश ही न आने पाया। इस तरह प्रतिज्ञाका निर्वाह किया। (ख) *'बैठे बट तर करि कमलासन'* इति। वटतले बैठनेसे पाया जाता है कि कैलासपर शिवजीके रहनेका स्थान नहीं बना है, वटतले रहते हैं। यथा—*'तेहि गिरिपर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥ त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया॥'* (१०६) कैलास भवन है, यथा—*'जबहिं संभु कैलासहि आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए॥' ......करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥'* (१०३) *'परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥'* (१०५) घर नहीं है, यथा—*'निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली॥'* (७९) [☞ परन्तु कवितावलीमें *'घर भाँगकी टाटिन्हको परदा'* है ऐसा कहा है और पुराणोंमें भी कैलासपर शिवजीके महलोंकी बड़ी विस्तृत व्याख्या पायी जाती है। *'अकुल अगेह'* आदिमें जो परिहास और गूढ़ भाव है वह तो कुछ और ही प्रकरण है] (ग) वट शिव-स्वरूप है, अतः उसके तले बैठे। [सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'वटके नीचे शिवजी पूजाके लिये बैठा करते थे। उस समय उनके पास कोई नहीं जाता था।]

टिप्पणी—५ (क) *'करि कमलासन'* इति। योगके चौरासी आसन हैं। उनमेंसे कमलासन एक श्रेष्ठ आसन है। कमलासनसे बैठनेसे सूचित हुआ कि समाधिस्थ होना चाहते हैं। [प० प० प्र० ठीक ही कहते हैं कि केवल पद्मासनस्थ होनेसे समाधिस्थ होना सूचित नहीं होता। सन्ध्या-पूजा-जप आदिमें भी लोग पद्मासनसे बैठते हैं। कैलासपर पहुँचनेपर यह समझकर कि हमने प्रण किया है *'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।'* उन्होंने सोचा कि यदि हम जाग्रत् अवस्थामें रहेंगे तो कदाचित् सतीजीसे प्रेम हो जाय और प्रेम करनेसे बड़ा पाप होगा।—*'परम पुनीत न जाइ तजि किये प्रेम बड़ पाप।'* अतएव प्रण निर्वाहके लिये वे समाधिस्थ हो गये। पुनः भाव कि चित्तकी वृत्ति सतीजीकी ओरसे हटी, तब उन्होंने उसे समाधिमें लगा दी। योगेश्वर शङ्करजीने सती-वार्तालापके भयसे समाधि लगायी हो यह बात ठीक नहीं है। (मा० प०)]

टिप्पणी—६ *'संकर सहज सरूप सँभारा।'.................'* इति। (क) **सहज सरूप**=ब्रह्मस्वरूप। यथा—*'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिरु नाई'* (वि०), *'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* (३।३६) **'जीवो ब्रह्मैव केवलम्'** तथा *'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'* (३।१११) इसीको आगे स्पष्ट करते हैं—*'लागि समाधि अखंड अपारा।'* अर्थात् ब्रह्माकार (तदाकार) होना समाधि है। यथा—**'मनसो वृत्तिशून्यश्च ब्रह्माकारतया स्थितिः। असंप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥'**

नोट—१ ☞ 'सहज स्वरूप क्या है', इसमें मतभेद है। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि इससे ब्रह्मगुफामें रहनेवाला परमात्मारूप (अभिप्रेत) है, जिसे सावधानीसे देखते ही मन ब्रह्मगुफामें बैठकर ब्रह्मानन्दके सुखमें मग्न हो जाता है फिर उसे देहकी खबर नहीं।' श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'व्यास, वाल्मीकि, अगस्त्य, शुक-सनकादि, नारद, हनुमान् और शिवजी इत्यादिके एक-एक स्वरूप परधाममें श्रीरामचन्द्रजीके निकट नित्य सेवामें रहते हैं और एक-एक स्वरूप प्रकृतिमण्डलमें आचार्यरूपसे रहते हैं। जो स्वरूप श्रीरामजीके निकट रहता है वही *'सहज सरूप'* है। पुनः, *'सहज सरूप सँभारा'* अर्थात् अपना वह स्वरूप जो देहादिसे भिन्न है, उसे सँभालकर परस्वरूपमें लगे।' वैष्णवमतानुसार श्रीशङ्करजी महाशम्भुरूपसे साकेतलोकमें श्रीसीतारामजीकी सेवामें नित्य रहते हैं। उस स्वरूपके सँभालनेसे इस देहमें वृत्तिके अभाव होनेसे अखण्ड अपार समाधि लग गयी। (इसीका विस्तार अरण्यकाण्ड द्वितीय संस्करणके परिशिष्टमें श्रीचक्रजीके लेखमें है।)

वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि जीवका '*सहज सरूप*' सच्चिदानन्द है। वह मायाके कारण भूला रहता है। जिन्हें भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है, वे जब चाहें अपने असली स्वरूपको सँभालकर भगवद्ध्यानमें तल्लीन हो जा सकते हैं। क्योंकि पूर्ण भगवत्कृपा प्राप्त जीवको फिर माया नहीं व्याप सकती। यथा—'***अब न तुम्हहिं माया निअराई।***' (नारदप्रति भगवद्वाक्य), '***माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।***' (भुशुण्डिप्रति श्रीरामवाक्य)

बैजनाथजीका मत है कि 'आत्मतत्त्व जो कारणप्रकृतिवश हो जीव हुआ और कार्य प्रकृतिवश मनादि इन्द्रिय-विषय सुखमें पड़कर बद्ध हुआ इत्यादि समग्र व्यवहारको त्यागकर उस आत्मतत्त्वको सँभालकर स्वरूपकी वृत्तिको श्रीरामरूपमें लय कर लिया। अर्थात् स्वरूप आत्मतत्त्व ही '*सहज सरूप*' है।

दूसरा मत यह है कि ब्रह्म ही रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण गुणत्रयके ग्रहण करनेसे ब्रह्मा, शिव और विष्णुरूप होकर जगत्‌की उत्पत्ति, संहार और पालन करता है। शङ्करजीने वही अपना शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मात्मक स्वरूप सँभाला। इसीसे अखण्ड अपार समाधि लग गयी।

कुमारसम्भवमें भी इसी सम्बन्धमें ये हैं—'**मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्तिहृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्। यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥**' (३। ५०-५१) अर्थात् मनकी वृत्तिको शरीरके नौ द्वारोंसे रोककर समाधियुक्त करके हृदयकमलमें स्थितकर महात्मालोग जिस परमात्माको अक्षर (अविनाशी) जानते हैं, उसको अपनी आत्मामें अवलोकन करनेवाले, मनसे भी दुर्धर्ष त्रिनेत्र शिवजीको दूरसे देखता हुआ कामदेव ऐसा सहम गया कि अपने हाथोंसे धनुष-बाणका गिर जाना भी न जान पाया।

जीवके जो स्वरूप संसारमें दिखायी देते हैं, वे कर्मकृत हैं। सत्त्वगुणी कर्मोंसे देवयोनि और रजसत्त्वगुणी कर्मोंके संमिश्रणसे मनुष्य-राजा इत्यादिकी योनि मिलती है इत्यादि। जब समस्त शुभाशुभ कर्मोंका विध्वंस हो जाय तब वह '*सहज सरूप*', जो वचनसे अगोचर '***सुद्ध चेतन अमल अबिनासी सहज सुखरासी***' इत्यादि है, प्राप्त हो। जिसे प्राप्त हो वही जान सकता है पर वह भी कह नहीं सकता। भगवत् साक्षात्कार होनेपर ही स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यथा—'***मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥***' (३। ३६)

जीवकी पाँच कोटियाँ हैं। बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त, केवल और नित्य पार्षद। मुक्त जीवमें भी दो भेद हैं—एक 'नित्य मुक्त', दूसरे 'बद्ध मुक्त'।

जीवका स्वरूप विज्ञानमय है। इसीको 'धर्मी' कहते हैं और उसमें रहनेवाले ज्ञानको 'धर्मभूतज्ञान' कहते हैं। यथा—श्रुतिः—'**जानात्येवाऽयं पुरुषः।**', '**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।**', '**एषोऽन्तरात्मा विज्ञानमयः। विज्ञानं यज्ञं तनुते।**', '**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्री क्षेत्रे तथा कृत्स्नम्।**'

गोस्वामीजीने '*सहज सरूप*.............' शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है और विनयमें तथा मानसमें भी जीवका स्वरूप थोड़े ही शब्दोंमें समझाया है। अतः इस शब्दका तात्पर्य जाननेके लिये हम उन प्रसङ्गोंको यहाँ उद्धृत करते हैं।—

१—'*मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥*' (३। ३६)

२—'***ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। ......तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥***' (७। ११७)

३—'*जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस स्वरूप बिसरायो।........आनंद सिंधु मध्य तव बासा॥ ......निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ। निरमल निरंजन निर्बिकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो॥ नियकाज राज बिहाइनृप इव स्वप्न कारागृह पर्‌यो। १२।......अनुराग जो निज रूप तें जग तें बिलक्षन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये। निर्मम, निरामय,*

एकरस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई॥ त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई। ......श्रीरघुनाथ चरन लय लागे॥ देह जनित बिकार सब त्यागे। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे॥' (११) (विनय० पद १३६)

उद्धरण—१ से यह सिद्ध होता है कि श्रीरामजीके दर्शनसे भगवत्साक्षात्कारसे *'निज सहज स्वरूप'* की प्राप्ति होती है।

उद्धरण—२ से यह बताया है कि जीव ईश्वरका अंश है, चेतन, अमल सहज-सुखकी राशि और अविनाशी है। जड़ मायाके वश होकर वह संसारी हो गया अर्थात् अपनेको देह मानने लग गया।

उद्धरण—३ से सूचित किया कि जीव मायावश *'निज सहज अनुभव रूप'* भूल गया। जीवका वह रूप है—निर्मल, निरञ्जन, निर्विकार, निर्मम, निरामय, एकरस, हर्ष-शोकरहित, सन्तोष सम-शीतल सदा, दम, देहाभिमानरहित इत्यादि। श्रीरामजीके चरणोंमें लयलीन हो, देहजनित विकारोंके त्याग हो जानेपर *'निज स्वरूप'* में अनुराग होता है।

इस प्रकार *'सहज स्वरूप '* सँभालना यह हुआ कि मैं देह नहीं हूँ, मैं चेतन, निर्मल, सहज-सुखराशि हूँ, अविनाशी हूँ, निर्मम निरामय एकरस हूँ, जितने भी सम्बन्ध स्त्री, पुत्र, शत्रु, मित्र आदि हैं वे देहके सम्बन्ध हैं, मेरे नहीं। ये सब सम्बन्ध मायिक हैं, माया जड़ है और मैं चेतन हूँ, मैं ईश्वरका अंश हूँ, प्रभु शेषी, अंशी, भोक्ता, स्वामी इत्यादि हैं और मैं उनका शेष, अंश, भोग्य, सेवक इत्यादि हूँ, प्रभुके चरणोंमें लय होना उनके ध्यानमें मग्न रहना ही मेरा कर्तव्य है।

प्रस्तुत प्रसङ्गमें *'सहज स्वरूप '* सँभालनेसे समाधिका लगना कहा है। फिर आगे चलकर दोहा ८२ (४) में *'मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥'* कहकर दोहा ८३ (३) में ब्रह्माजी कहते हैं कि *'सिव समाधि बैठे सबु त्यागी।'* फिर दोहा ८६ में कहते हैं—*'चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदयनिकेत।'* और अन्तमें कहा कि *'छूटि समाधि संभु तब जागे।'*— समाधिके इन दोनों प्रसङ्गोंका मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनको स्थिर करके श्रीरघुनाथजीका ध्यान करना ही *'सहज स्वरूप'* सँभालना है। ध्यान करते ही तदाकार वृत्ति हो गयी, यह 'समाधि' लग जाना है।

गोस्वामीजीने भगवान् शङ्करको ईश्वर और ब्रह्म कहते हुए भी श्रीरामोपासक कहा है और उपनिषदोंमें भी इनको ब्रह्म कहते हुए भी इनकी उत्पत्ति श्रीमन्नारायणसे बतायी है और इनको श्रीरामजीका उपासक कहा है। यथा—**'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे'** (रा० त० उ० १),**'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः। मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः॥ १॥ ततः प्रसन्नो भगवाञ्छ्रीरामः प्राह शङ्करम्। वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वर॥ २॥'...... क्षेत्रेऽस्मिन्योऽर्चयेद् भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव।'** (६) (रा० ता० उ०), इत्यादि, श्रुतिवाक्योंमें शिव, शङ्कर, रुद्र, वृषभध्वज और परमेश्वर आदि शब्दोंसे कहे जानेवाले काशीपति विश्वनाथका श्रीराममन्त्रजापक, श्रीरामाराधक और श्रीराममन्त्रोपदेशक होना स्पष्ट पाया जाता है।

गोस्वामीजीने भी श्रुतियोंके मतानुसार शिवजीको ईश, ईश्वर, रुद्र, ब्रह्म कहते हुए भी उनको राममन्त्रका जापक, उपदेशक और रामाराधक ही सर्वत्र कहा है। यथा—*'महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥'* (१।१९)*'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥ ....अंतरधान भए अस भाषी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥'* (१७६-७७) अतएव गोस्वामीजीके मतसे *'सहज स्वरूप सँभारा'* का तात्पर्य यही निश्चय होता है जो हम ऊपर लिख आये कि श्रीरामरूपके ध्यानमें संलग्न हो समाधिस्थ हो गये। इसीसे जागनेपर वे 'राम राम' स्मरण करते हुए पाये गये।

अद्वैतमतके सिद्धान्तसे *'सहज स्वरूप'* से 'ब्रह्मस्वरूप' का अर्थ लिया जायगा। इसके लिये प्रमाणमें श्रीमद्भागवतके निम्न उद्धरण दिये जा सकते हैं। यथा—**'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। .... सृजन् रक्षन्हरन्विश्वं दधे संज्ञां क्रियोचिताम्।'** (४।७।५०-५१) **'जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः। शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद् ब्रह्म निरन्तरम्॥ त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः। विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा॥'** (४।६।४२-४३)—जिस प्रकार मकड़ी आप ही जालेको रचकर उसमें क्रीड़ा करती

है और अन्तमें उस जालेको अपनेहीमें लीन कर लेती है वैसे ही आप भी अपने ही स्वरूपसे संसारकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं।

ऊपर कुमारसम्भवसे उद्धृत श्लोकोंमें जो '**आत्मानम् आत्मनि अवलोकयन्तम्**' कहा गया है वह विशिष्टाद्वैत और अद्वैत दोनों पक्षोंमें लिया जा सकता है। 'अपनी आत्मामें परमात्माको अवलोकन करनेवाले' इसीको गोस्वामीजीके '***करन लगे रघुनायक ध्याना***' कह सकते हैं।

टिप्पणी—७ '***लागि समाधि अखंड अपारा***' इति। '***अखंड***' का भाव कि यह समाधि बीचमें खण्डित नहीं होगी। जितने दिनोंके लिये है, उतने दिन पूरे होनेपर छूटेगी। सिद्ध सङ्कल्पयोगी समाधि लगाते समय समाधिकालका जो सङ्कल्प करते हैं वह सङ्कल्पबलसे उस कालकी समाप्तिपर छूटती है। यह अखण्ड है; इसमें भाव यह है कि आगेवाली (दूसरी) समाधि अखण्ड नहीं है, उसे काम खण्डित करेगा। सत्तासी हजार बर्षकी होनेसे अपार कहा। **अपार**=भारी। [मा० प० में '***सहस सतासी***' का अर्थ '***एक हजार सत्तासी***' किया है।]

नोट—२ (क) '***समाधि***' इति। वेदान्त-शास्त्रमें चित्तकी एकाग्रताके परिणामको 'समाधि' कहा है। '**चित्तस्यैकाग्रता परिणामः समाधिः।**' इसके दो भेद हैं। एक सविकल्पक, दूसरा निर्विकल्पक। इनकी अवस्थाओंका स्वरूप इस प्रकार लिखा है— '**दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमव्ययम्। अलेपगं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तम्॥**' '**दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति बंधो न च मे विमोक्षः॥**' (१-२) '**लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः। सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्।**'— (मा० प०) अर्थात् सविकल्पसमाधिमें साधकको यह भावना होती है कि जो ध्यानगत स्वरूप आकाशवत् सर्वव्यापक, सर्वपर एकरूप मालूम होनेवाला, अजन्मा, एक, निर्विकार, मायारहित, सर्वत्रप्राप्त और अद्वितीय है, उसी प्रकार मैं भी निरन्तर, विमुक्त, शुद्ध और विकाररहित हूँ, मेरा न कभी बन्धन हुआ न मोक्ष। (१, २) निर्विकल्पमें चित्तविक्षेपका शमन हो जाता है और जब मनोमलको जानकर उसे शमन करके साधक समाधिको प्राप्त होता है, तब वह अपने सङ्कल्पके भीतर चलायमान नहीं हो सकता। (ख) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'जो योगी योगक्रियामें कच्चे रहते हैं, उनकी समाप्ति सङ्कल्प किये हुए वर्षोंके भीतर ही कई बार टूट जाती है; पर महादेवजी तो पूरे योगी हैं; इससे हजारों वर्षकी समाधि लग गयी।' श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रकृति-पुरुषके परस्पर अध्यासके विच्छेदसे ही सहज स्वरूपमें समाधि होती है, यथा— '**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।**' यहाँ प्रकृति-(सती-) से पुरुष-(शिव-) के प्रेमका विच्छेद ही समाधिका कारण हुआ।'

दो०—सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहि।
मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहि॥५८॥

अर्थ—तब सतीजी कैलासपर रहने लगीं। (उनके) मनमें बहुत सोच है। कोई कुछ भी (इस) मर्मको नहीं जानता (उनके एक-एक) दिन युगके समान बीत रहे हैं॥५८॥

टिप्पणी—१ (क)'***सती बसहिं कैलास***' इति। भाव कि शिवजी समाधिमें बसे और सतीजी कैलासमें बसती हैं। शङ्करजी बटतले हैं और ये कैलासपर वहाँसे दूर निवासस्थानमें अकेली रहती हैं। अर्थात् दोनोंमें वियोग है। वियोग होनेसे अधिक सोच है। (ख) '***अधिक सोचु***' अर्थात् सोच तो पूर्वसे ही था; यथा—'***हृदय सोच समुझत निज करनी।***' अब अधिक हो गया। ['***अधिक सोचु***' का स्वरूप उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि '***जुग सम दिवस सिराहिं।***' '***बसहिं कैलास***' कहकर '***अधिक सोचु***' कहनेका भाव यह भी है कि कैलास बड़ा ही रमणीय और सब सुखोंसे परिपूर्ण है; यथा—'***परम रम्य गिरिबर कैलासू।***' इत्यादि; ऐसे सुखके स्थानमें रहनेपर भी उनको सुख न हुआ। कारण कि कैलासमें जो सुख है उसके मूल तो शिवजी ही हैं। यथा—'***बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद।***' (१०५) सो उन्हीं सुखमूलने इनको त्याग

दिया है, तब सुख कहाँ? पुनः भाव कि पतिवियोगके समान संसारमें दुःख नहीं है, पतिके बिना सुरपुर भी नरकके समान दुःखद होता है। यथा—*'पिय बियोग सम दुख जग नाहीं॥'*........*'तुम्ह बिनु रघुकुलकुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥'* (अ० ६४).........*'पतिबिहीन सबु सोकसमाजू॥'*.........*'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥'* इत्यादि] पुनः भाव कि दाम्पत्यभाव त्यागनेपर भी उनके शोकके निवारण करनेवाले एकमात्र शिवजी ही थे; यथा—*'सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। कही कथा सुंदर सुख हेतू॥'* सो वे शङ्करजी भी समाधिस्थ हो गये। अतः अधिक सोच है कि अब दिन कैसे बीतेगा ? यही बात आगे कहते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'मरमु न कोऊ जान कछु'* इति। कोई मर्म नहीं जानता क्योंकि वे किसीसे कहती नहीं। [यह भी सोच बढ़नेका एक कारण है। भेद किसी मित्रसे कहनेसे दुःख कुछ कम हो जाता है पर वहाँ कहें तो किससे ? (ख) *'जुग सम दिवस सिराहि'*— दुःखके दिन इसी तरह बीतते हैं, काटे नहीं कटते]

नित नव सोचु सती उर भारा। कब जैहौं दुखसागर पारा॥ १॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना॥ २॥
सो फलु मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥ ३॥
अब बिधि अस बूझिअ नहि तोही। संकर बिमुख जियावसि मोही॥ ४॥

अर्थ—श्रीसतीजीके हृदयमें सोचका भार (बोझ) नित्य नया बढ़ता जाता था (वा, सोच नित्य नया और भारी हो रहा था।) (वे सोचती हैं) मैं इस दुःखसागरके पार कब जाऊँगी॥ १॥ मैंने जो रघुनाथजीका अपमान किया (और उसपर) फिर पतिके वचनोंको भी झूठा समझा॥ २॥ उसका फल मुझे विधाताने दिया। जो कुछ उचित था वही (उसने) किया॥ ३॥ हे विधाता! अब तुझे ऐसा उचित नहीं कि शङ्करजीसे विमुख मुझे जिला रहा है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'नित नव सोचु.........।'* नित्य नया सोच प्राप्त होता है, नित्य नया बढ़ता है। दुःखको सागर कहा; इसीसे उसके 'पार' जाना कहा। यहाँ 'सोच' जल है। जैसे सागरमें नित्य नवीन जल प्रवेश करता है, वैसे ही सतीजीके दुःखसागरमें नित्य नया 'सोच' प्राप्त होता है। यथा—*'सती सभीत महेस पहिं चली हृदय बड़ सोचु।'* यहाँ उत्तर क्या देंगी यह सोच हुआ। फिर *'सुनि नभ गिरा सती उर सोचू'* यह त्यागका 'सोच' हुआ। इसके बाद *'हृदय सोच समुझत निज करनी'* यहाँ अपनी करनीका सोच उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् *'सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं'* यह वियोगका 'सोच' हुआ और अब *'नित नव सोचु सती उर भारा'* यह नया सोच दुःखसागरके पार जानेका हुआ। (ख) *'कब जैहौं दुखसागर पारा'* इति। समुद्रके पार कोई जा नहीं सकता, इसीसे पार होनेका सोच है। (कि कैसे पार होऊँगी, यह तो अपार है, इसके पार होना असम्भव है, मेरी शक्तिसे बाहर है) नित्य नया सोच होता है (अर्थात् कभी कम नहीं होता, दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही जाता है) इसीसे दुःखसागर बढ़ता जाता है, एक-एक दिन युगसमान बीतता है—यही समझकर कहती हैं कि 'पार कब जाऊँगी।'

नोट—१ दुःख पड़नेपर एकान्तमें रहनेसे, नाना प्रकारके विचार उठनेसे नित्यप्रति शोक बढ़ता ही है, क्योंकि मनुष्य उसीको दिन-रात सोचा करता है। नित्य अपनी सब करनी, अपना अपराध, प्रभुका अपमान, पति-अपमान, पति-परित्याग, पति-स्वभाव इत्यादि विचार कर-करके अधिक शोचयुक्त होती जाती हैं। कोई उपाय समझ नहीं पड़ता, इसीसे दुःख अपार समुद्र देख पड़ रहा है। पति-परित्यागसे बढ़कर दुःख नहीं, इसीसे उसे सागर कहा। नित नव होनेमें प्रमाण—**'असौ चिन्ताज्वरस्तीव्रः प्रत्यहं नवतां व्रजेत्'**। (मा० प०) भारा=भार, बोझा=भारी।

टिप्पणी—२ *'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना'*.......... ' इति। (क) श्रीरघुपति अपमान यह है कि शिवजीको प्रणाम करते देखकर भी उन्हींकी तरह प्रणाम न किया, उलटे उनको मनुष्य माना। 'पतिवचन' अर्थात् जो उन्होंने कहा था *'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित॥'*..... ।' (५१) (ख) प्रथम रघुपतिका अपमान किया, पीछे पतिवचनको झूठा माना। उसी क्रमसे यहाँ ग्रन्थकारने लिखा भी। 'रघुपति-अपमान' प्रथम ही प्रारम्भ हुआ जब उन्होंने उनमें नर-बुद्धि की। पतिने वचन पीछे कहे। 'पुनि' शब्द भी यही सूचित करता है। 'जो' का सम्बन्ध आगे *'सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा।'* से है। 'जो' 'सो' का सम्बन्ध है।—**'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः।'**

नोट—२ बैजनाथजीका मत है कि—'पतिका वचन कि ये सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। झूठ मानकर ब्रह्मको मनुष्य करके जाना और उसका परीक्षाहेतु अपमान किया। इस तरह पतिवचनका मृषा मानना प्रथम हुआ, 'तब रघुपति अपमान' यह सिद्धान्त कर वे यह शङ्का उठाकर कि 'तब रघुपति अपमान' को यहाँ प्रथम क्यों लिखा', उसका समाधान यह करते हैं कि *'फलकी प्राप्ति प्रथम इहै भयो।'* (सम्भवतः *'इहै'* अशुद्ध छपा है। *'इहैं'* होगा)। अर्थात् यहाँ, फलकी प्राप्तिके कारणोंमें 'रघुपति-अपमान' को प्रथम कहा गया क्योंकि न वे सीतारूप धारण करतीं, न उनका त्याग होता। मुख्य कारण यही था। इसलिये इसको प्रथम कहा। दोनों बातें इससे कहीं कि यदि पतिवचन मान लेतीं, तो 'रघुपति-अपमान' का अवसर ही न आता। इस प्रकार पतिवचनमें अविश्वास कारण है और 'रघुपति-अपमान' कार्य है। कारणसे कार्य बली है। इससे कार्यको पहले कहा। पतिवचन झूठ माना—इसका फल त्याग है सो पीछे हुआ।

यदि श्रीबैजनाथजीका मत ठीक मानें कि श्रीरघुपतिजीकी सीतारूप धरकर परीक्षा लेना ही 'रघुपति-अपमान' है तो इसको प्रथम कहनेका यह भी एक कारण हो सकता है कि श्रीरघुनाथजी शिवजीके स्वामी हैं (जैसा कि शिवजीके प्रणाम, पुलक आदि भाव, अनुमान और उनके वचनोंसे सतीजी समझ गयी हैं), अतः उनका अपमान ही अपने त्यागका प्रधान कारण मानती हैं, इसीसे प्रधान कारणको उन्होंने प्रथम कहा।

टिप्पणी—३ सतीजी दो ही अपराध करना कहती हैं—एक 'रघुपति-अपमान' दूसरा पतिवचनको झूठ मानना। सीतारूप धारण करनेको अपराध नहीं कहतीं। कारण कि सीतारूप तो परीक्षार्थ धारण किया था, किसी दुष्टभावसे नहीं। शिवजीने भक्तिपन्थकी रक्षाके लिये इसे अपराध माना। (शङ्करजी श्रीरामभक्तिके आचार्य हैं। अगस्त्यजीने आपसे भक्ति पूछी तब अधिकारी जानकर आपने उनसे कही। अतः भक्तिका आदर्श दिखानेके लिये सीतावेष धारण करनेमात्रसे सतीजीको अपराधी मान लिया।)—यह श्रीशङ्करजीके भावकी बड़ाई है। नहीं तो औरोंके मतसे इसमें सतीजीका कोई अपराध नहीं है। यथा—*'बिनु अघ तजी सती असि नारी।'*

टिप्पणी—४ (क) *'सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा'* इति। पापका फल दुःख है, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।'* विधाता ही कर्मका फल देता है, यथा—*'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥'* (अ० २८२) और उचित ही फल देता है, यथा—*'कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता॥'* (बा० २२२)—इसीसे विधाताका फल देना कहा। [प्र० स्वामीका मत है कि 'विधाता श्रीरघुनाथजी हैं, वे ही कर्मफलदाता हैं, यथा—*'करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥ कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्मफलदाता॥'* (७।४१।४-५) आगे चलकर सतीजी उन्हींसे प्रार्थना करती हैं। *'अस बिबेक जब देइ बिधाता।'* (१।७।१) में भी रघुनाथजी ही बुद्धिदाता हैं] क्या फल दिया? यह पूर्व ही कह चुकी हैं—*'कब जैहौं दुखसागर पारा।'* अर्थात् मुझे दुःखसागरमें डुबा दिया। यह फल दिया। भारी पाप किया इसीसे दुःख सागर मिला। (ख) *'जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा'* अर्थात् विधाताका इसमें कोई दोष नहीं है, विधाताने उचित ही किया। ऐसे पापीको ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये।

टिप्पणी—५ *'अब बिधि अस बूझिअ नहि तोही'''''''''''* ' इति। (क) *'अस बूझिअ नहि'* का भाव कि अबतक जो किया वह उचित ही किया, पर अब अनुचित कर रहे हो। मेरे इस पापका फल 'शरीरत्याग' होना चाहिये सो दण्ड न देकर मुझे जीवित रख रहे हो, यह अनुचित है। *'संकर बिमुख जिआवसि मोही'* यह अनुचित है। तात्पर्य कि शङ्करविमुखको जिलाना न चाहिये। जिसमें मेरा मरण हो वह करना तुमको उचित है। *'अब'* का भाव कि पापका फल तो मैं पा चुकी कि पतिसे विमुख हुई, इससे अधिक बढ़कर दु:ख कौन है? अर्थात् कोई नहीं। यथा—*'बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥ प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥'* (अ० ६६) *'सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचन ओट रामु जनु होंही॥'* (अ० ४५) अब फल भोग लेनेपर भी तुम्हें ऐसा न चाहिये कि शङ्कर-विमुख होनेपर भी मुझे जीवित रखकर दु:ख भोग करा रहे हो। अथवा, पापका फल देहत्याग (मृत्यु) चाहिये सो क्यों नहीं देते?

नोट—३ *'उचित रहा सोइ कीन्हा'* कहा, क्योंकि *'जो जस करइ सो तस फल चाखा।'* (२।२१९) *'करइ जो करम पाव फल सोई।'* (२। ७७) यह नीति है। यथायोग्यका सङ्ग होनेसे यहाँ 'सम' अलङ्कार है। *'बिधि बूझिअ नहिं तोही'* का भाव कि आपका नाम तो *'बिधि'* है परंतु आप करते हैं अबिधि, यह उचित नहीं। तुम्हारी यह विधिता हमारे समझमें नहीं आती। *बूझिअ*=चाहिये। किसी-किसीने ठीक अर्थ और *'बूझिअ'* का प्रयोग न जाननेसे 'बूझना या समझना चाहिये' अर्थ किया है जो गलत है।

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महुँ रामहिं सुमिर सयानी॥५॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥६॥
तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी॥७॥

अर्थ—हृदयकी ग्लानि कुछ कही नहीं जाती। बुद्धिमती (चतुर) सतीजी मनमें श्रीरामजीको सुमिरने लगीं॥५॥ हे प्रभो! यदि आप दीनदयाल कहलाते हैं, आप (दीनोंका) दु:ख हरनेवाले हैं—यदि वेद (आपका यह) यश गाते हैं॥६॥ तो मैं हाथ जोड़कर (आपसे) विनती करती हूँ कि मेरी यह देह शीघ्र छूट जाय॥७॥

टिप्पणी—१ *'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी'* इति। (क) ☞सतीजीके हृदयमें जीनेकी ग्लानि है, इसीसे वे बारम्बार अपने मरनेकी बात कहती हैं। यथा—*'संकर बिमुख जिआवसि मोही', 'छूटौ बेगि देह यह मोरी', 'होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ।'* (५९) इसीसे मरणके लिये भगवान्से प्रार्थना करती हैं, साथ-ही-साथ अपने पातिव्रत्यका भी बल लगा रही हैं। और अपने अपराधकी भी ग्लानि है, इसीसे बारम्बार अपना अपराध विचारकर ग्लानि करती हैं, कुछ कहती नहीं। यथा—*'हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी॥', 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई॥', 'पति परित्याग हृदय दुखु भारी। कहै न निज अपराध बिचारी॥'* (६१) (ख)*'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी'* इति। *'सुमिर'* पाठ प्राचीनतम पोथी सं० १६६१ का है और शुद्ध भी है। सुमिरि अपूर्ण क्रिया अशुद्ध होगी। *'सुमिर'* कहकर आगे कहते हैं कि किस तरह सुमिर रही हैं। *'सुमिरि'* एक दूसरी पूर्ण क्रिया चाहता है पर आगे कोई ऐसी क्रिया नहीं है। (ग) श्रीरामजीका स्मरण करना ही सयानपन है; यथा—*'परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर।'* (आ० ६) ☞यहाँतक अज्ञानता होती चली आयी। जब श्रीरामजीका स्मरण किया तब सतीजीको वक्ता *'सयानी'* कहते हैं। सतीजी शोचसागरमें पड़ी हुई हैं। श्रीरामजीके स्मरणसे शोचसमुद्र रह ही नहीं जाता; इसीसे सतीजीने उनका स्मरण किया। अत: अब शोक छूटेगा।

नोट—१ सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'अब सतीजी ठीक राहपर आ गयीं कि पतिके पतिकी शरणसे दोनों प्रसन्न हो जायँगे। इसलिये ग्रन्थकारने **'या लोकद्वयसाधनी हितकरी सा चातुरी चातुरी'** इस

प्रमाणसे सतीको ***'सयानी'*** कहा।' सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि सतीजीने यही सोचा कि जिनका मैंने अपमान किया जबतक उनकी शरण न जाऊँगी तबतक क्लेशसे न छूटूँगी। ऐसी बुद्धि हो जानेपर ग्रन्थकारने उनको ***'सयानी'*** कहा। और, पंजाबीजी लिखते हैं कि सयाने लोग रोगका निदान समझते हैं, वैसे ही इन्होंने जान लिया कि 'रघुपति अपमानका फल यह दुःख हुआ, उन्हींकी शरण जानेसे सुख होगा, तब उन्होंने 'स्मरण' रूपी दवा की।

☞मनुष्य जब सब ओरसे हार मानकर उपायशून्य होकर केवल भगवच्छरणकी ओर ताकने लगता है और मन, कर्म, वचनसे भगवान्‌की शरण हो जाता है तब उसका कल्याण अवश्य होता है, उसके क्लेशोंका अन्तकाल आ जाता है। सत्यसंध दृढ़व्रत श्रीरामजीका श्रीमुखवचन है कि ***'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' 'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥'*** (सु० ४४)

☞'जबतक मनुष्यको अपने पुरुषार्थका अभिमान बना रहता है, जबतक उसको अपने किये हुए कुकर्मोंकी ग्लानि नहीं होती, तबतक भगवान्‌की शरणागति दूर है। सत्-शास्त्रोंका यही सिद्धान्त है कि यदि अपने मनमें अपने दुष्कर्मों, अपने पापोंकी ग्लानि आ जावे तो भगवान् अवश्य क्षमा और सहायता करते हैं। वही यहाँ हुआ। सतीजी अपने अपराधोंका बारम्बार स्मरण करती हैं और अपना अपराध स्वीकार कर रही हैं। पति-परित्यागरूपी दण्डको भी उचित मानती हैं। अत्यन्त ग्लानिकी यह सीमा है कि मनुष्य अपना मरण चाहने लगता है। उसके मन और वचनमें यही धुन लगी रहती है कि कब और कैसे यह शरीर छूटे और बहुधा लोग तो इसी कारणसे आत्महत्या कर लेते हैं। ठीक उसी समय उसके शुभ संस्कारोंसे उसे प्रभुकी शरण होनेकी बुद्धि उत्पन्न हो गयी तो उसके सब काम बन जाते हैं। वही यहाँ हुआ।—यहाँ सतीजीने 'आर्तप्रपन्न' के रूपमें भगवच्छरण स्वीकार किया। इसीसे 'दीनदयाल' 'आरतिहरन' गुणोंको स्मरण करती हैं। इसीसे आर्तिहरणका शीघ्र उपाय हो गया।

टिप्पणी—२ ***'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा।'*** इति। यथा—***'जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवहु सो श्रीभगवाना।'*** अर्थात् अपना दीनदयाल बाना यहाँ दिखाइये, अपने 'दीनोंपर दया करनेवाले' विरदको स्मरणकर मेरे भारी संकटको हरण कीजिये; यथा—***'दीनदयाल बिरिद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥'*** (सुं० २७) अपने दीनदयाल बानेकी रक्षा कीजिये। आप दीनोंपर दया करके उनका दुःख हरते हैं ऐसा वेद कहते हैं। मैं दीन हूँ, दुःखी हूँ। मेरा दुःख हरिये, नहीं तो विरद झूठा हो जायगा।—ब्रह्मा शिवजीसे विमुख कराके अब जीवित रख रहा है, मरण नहीं देता। इसीसे ब्रह्मासे प्रार्थना नहीं करतीं। श्रीरामजी दीनदयाल और आर्तिहरण हैं, इसलिये उनकी शरण गयीं, उनसे प्रार्थना करती हैं।

नोट—२ ***'प्रभु'*** का भाव कि आप '**कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्**' समर्थ हैं। 'दीनदयाल' और 'आरतिहरन' गुण कहकर जनाया कि पति-परित्यक्ता होनेसे मैं दीन भी हूँ और दुःखी भी हूँ। मुझपर दया करना और मेरा दुःख निवारण करना आपको उचित है।

टिप्पणी—३ ***'तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह'''''''''''''''''***' इति। (क) तात्पर्य कि यदि लोकमें जो आपका दीनदयाल विरद प्रसिद्ध है वह सच्चा है और यदि वेदवाणी सत्य हो कि आप आर्तिहरण हैं और मैं सत्य ही दीन और आर्त हूँ तो मेरी देह शीघ्र छूट जाय—इस कथनसे पाया गया कि सतीजी जानती हैं कि बिना देह छूटे दुःख न मिटेगा; इसीसे 'आर्त्ति' छूटनेकी प्रार्थना न करके देह छूटनेकी प्रार्थना करती हैं। (ख) ***'कर जोरी'*** इति। हाथ जोड़ना परम दीनता और देवताओंको शीघ्र प्रसन्न करनेकी परमा मुद्रा है; यथा—***'सकहु न देखि दीन कर जोरे।'*** ***'तौ'*** का भाव कि यदि आप दीनदयाल आदि न होते तो मैं आपसे विनय न करती! आप ऐसे हैं, अतः मैं विनय करती हूँ। (ग) **छूटौ**=छूटे। ***'बेगि'*** कहकर जनाया कि पति-परित्यागका दुःख भारी है, अब सहा नहीं जाता। यथा—***'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥'*** (सुं० १२) [दूसरे ***'बेगि'*** इससे कि पतिकी इच्छा और प्रतिज्ञा दोनों पूरी हो जायँ। तीसरे यह कि जिसमें शीघ्र पुनः संयोग हो।] (घ)***'छूटौ देह यह'*** इति।'यह देह

छूटै' कहनेका भाव यह है कि शिवजीका इसी देहके त्यागका संकल्प है—*'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।'* यह बात उन्हीं भगवान्‌की प्रेरणासे सतीजीको भी मालूम हो गयी कि जिनने महादेवजीको सतीतनत्यागकी प्रेरणा की थी। इसीसे वे *'छूटौ देह यह'* कहकर इसी देहके छूटनेकी प्रार्थना करती हैं। (ङ) यह तन-त्याग क्यों कराया गया। इसका कारण यह है कि दक्ष शिवविरोधी है और उसके वीर्यसे यह तन उत्पन्न हुआ है। इस तनको छुटाकर अधर्मीसे धर्मात्माका नाता छुड़ाया है। यथा—*'पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ सुक्र संभव यह देही॥ तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू॥'* (६४)—इस विचारसे शिवजीको सतीतनत्यागकी प्रेरणा की गयी।

[आर्ति और दीनताके छूटनेके दो ही उपाय हैं—या तो शिवजी अपनी प्रतिज्ञा छोड़ें या सतीजीकी देह छूटे। तीसरा उपाय है ही नहीं। सतीजी कहती हैं कि शिवजीकी प्रतिज्ञा न छूटे, मेरी देह छूट जाय। दीनता और आर्तिका कारण शिवचरणस्नेह है, अतः कहती हैं *'जौं मोरें ……'* (वि० त्रि०)]

जौं मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू॥ ८॥

दो०—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ।
होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ॥ ५९॥

अर्थ—यदि शिवजीके चरणोंमें मेरा स्नेह है (और) मन-कर्म-वचनसे सत्य ही मेरा यही व्रत हो (वा, मेरा यह व्रत सत्य हो)॥ ८॥ तो हे सर्वदर्शी प्रभु! (मेरी प्रार्थना) सुनिये। शीघ्र वह उपाय कीजिये जिससे मेरा मरण बिना परिश्रमके ही हो जाय और बिना परिश्रम ही मेरा असह्य दुःख दूर हो जाय॥ ५९॥

टिप्पणी—१ *'जौं मोरें सिवचरन सनेहू। ………'* इति। (क) यहाँतक दो बातें कहीं। एक तो यह कि *'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा।' ………'तौ मैं बिनय करौं ………।'* और दूसरी यह कि *'जौं मोरें सिव चरन सनेहू।' ………'तौ सबदरसी ……।'* दोनोंमें *'जौं' 'तौ'* का सम्बन्ध है। दो बातें लिखनेका भाव यह है कि—सतीजी रामभक्त हैं; यथा—*'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी'* और पतिव्रता भी हैं। इसीसे उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की और साथ ही शिवचरणमें स्नेह भी रखा। पुनः भाव कि श्रीरामजीको शरणागत प्रिय है, इसलिये प्रथम उनके 'दीनदयाल' 'आरतिहरन' गुणोंका स्मरण किया, उनकी शरण गयीं। और भगवान्‌को पतिव्रता भी बहुत प्रिय है, यथा—*'जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।'* (आ० ५)—इसलिये अपना पातिव्रत्य स्मरण किया। दोनोंका जोर लगाया। (ख) *एहू*=यही। यथा—*'तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू। नाहिन आलि इहाँ संदेहू॥'* (२२२) *'ब्रत एहू'* कहनेका भाव यह कि अन्य व्रत नहीं है, एक मात्र यही एक व्रत है। यथा—*'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥'* (आ० ५) (ग) मन-कर्म-वचनसे सत्य ही अर्थात् मनसे चरणोंमें स्नेह करती हूँ, मन और तनको सेवामें लगाये रखती हूँ और वचनसे कहती हूँ।

टिप्पणी—२ *'तौ सबदरसी सुनिय प्रभु……'* इति। (क) *'सबदरसी'* (सर्वदर्शी) अर्थात् आप सब कुछ देखनेवाले हैं। अतः आप मेरे चिरचरणस्नेहको भी देखते और जानते हैं, (आपसे कुछ छिपा नहीं है। आपसे मैं झूठ कैसे बोल सकती हूँ ?)। (ख) *'सुनिय'* कथनका भाव कि पहले विनय की है (अर्थात् कहा है कि हाथ जोड़कर विनय करती हूँ) इसीसे अब कहती हैं (कि जो मैं कहती हूँ उसे सुनिये)। *'प्रभु'* का भाव कि आप उपाय करनेमें समर्थ हैं। (ग) *'करौ सो बेगि उपाइ'* इति। विपत्ति दुःसह है, सही नहीं जाती, इसीसे 'देह छूटने' और 'उपाय करने' में, दोनों जगह बेगि पद दिया।—*'छूटौ बेगि'* और *'बेगि उपाय करौं'*।

टिप्पणी—३ *'होइ मरनु जेहि बिनहिं श्रम दुसह………'* इति। (क) भाव कि बिना मरे दुःसह दुःख नहीं जानेका। सतीजीने दो वर माँगे। एक तो मरण, दूसरा मरणका उपाय। भगवान्‌की प्रार्थनासे मरण माँगा और शिवचरणस्नेहसे उपाय माँगा। (ख) *'बिनहि श्रम'* देहलीदीपक है।

नोट—१ *'तौ सबदरसी ·········बेगि उपाइ, होइ मरनु·······'* इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'शीघ्र सुगम उपाय कीजिये जिसमें बिना परिश्रम मरण हो' इसमें भाव यह है कि पति-परित्यागसे मरण न सूचित हो, किसी तरहका अपयश न हो, धर्ममर्यादा और सुयशसहित मरण हो, इसीलिये मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, नहीं तो जल-अग्नि, विष आदि अनेक उपाय सबको सुलभ हैं ही, पर वे उपाय मैं नहीं चाहती क्योंकि उनमें आत्मघातका दोष लगेगा।

नोट—२ सतीजी पहले सर्वदर्शी न जानती थीं, परीक्षा करनेपर जो अनुभव हुआ उससे यह विशेषण दिया है और अब उनको 'प्रभु' समझती हैं।

एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुखु भारी॥ १॥
बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥ २॥

अर्थ—प्रजापति-(दक्ष-) की कन्या इस प्रकार दुःखित थी। भारी कठिन दुःख वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १॥ सत्तासी हजार संवत् (वर्ष) बीत जानेपर अविनाशी शिवजीने समाधि छोड़ी॥ २॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी'* इति। (क) यहाँ दुःख-वर्णनकी इति लगाते हैं क्योंकि यहाँ दुःखकी भी इति है। श्रीरामजीका स्मरण करने, उनकी शरण जानेसे दुःखका भी अन्त आ गया। (ख) *'एहि बिधि'* अर्थात् जैसा *'सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं ।'* (५८) से यहाँतक कह आये। (ग) *'दुखित प्रजेसकुमारी'* इति। दुःखित होनेमें प्रजेशकुमारी नाम देनेका भाव यह है कि—(१) इतने भारी प्रजापतिकी कन्या होकर भी दुःखी है, यह क्यों? पतिपरित्यक्ता होनेसे। तात्पर्य कि स्त्रीके लिये तो पतिका सुख ही प्रधान है। वह न हुआ तो और चाहे समस्त सुख भी हुए तो उसके लिये तुच्छ हैं। यथा—*'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥'* (अ०) *'जमजातना सरिस संसारू।'* (२) [जब प्रजेशकी कन्याहीकी यह गति पति और इष्टके अपमानसे हुई तब प्राकृत स्त्रियाँ यदि ऐसा करें तो उनकी न जाने क्या गति हो। (रा० प्र०)] अथवा, (३) *'प्रजेश'* पद देकर जनाया कि इस समय (अर्थात् शिवजीकी समाधि खुलनेके कुछ दिन पूर्व) दक्ष प्रजापति हुए जैसा आगे कहते हैं—*'दक्ष प्रजेस भए तेहि काला।'* इसीसे अबतक प्रजेश न कहकर दक्ष ही कहते आये, यथा—*'दच्छसुता कहुँ नहि कल्याना।'* अथवा, (४) [प्रजापति शङ्करविमुख है। अतः *'प्रजेसकुमारी'* में अभिप्राय यह है कि शङ्करविमुखकी कन्याका दुःखी होना उचित ही है। (वीर)]

टिप्पणी—२ *'अकथनीय ··········'* इति। सतीजीकी चिंता, ग्लानि और दुःख इतने बढ़े हुए हैं कि वक्ता लोग वर्णन नहीं कर सकते। यह बात इस प्रसङ्गमें दिखाते हैं, यथा—*'हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी॥', 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी।', 'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी॥'* अतः *'अकथनीय'* कहा। वक्ता तो कह ही नहीं सकते पर सतीजी भी नहीं कह सकतीं, यथा—*'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई॥' 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी।'* इत्यादि।

टिप्पणी—३ *'बीतें संबत सहस सतासी। ···············'* इति। *बीतें*=बीतनेपर। (क) सत्तासी हजार वर्ष बीतनेपर शङ्करजीने समाधि छोड़ी। भाव यह कि सतीजीकी आयुके इतने वर्ष बाकी थे। वह शिवजीने समाधिमें बिता दिये। जिसमें सतीतनसे प्रेम न हो। *'तजी'* से जनाया कि शिवजीने समाधि स्वयं छोड़ी, नहीं तो *'छूटि समाधि'* लिखते जैसा कि दूसरी समाधिके सम्बन्धमें लिखा है जो कामके उत्पातसे छूटी थी। यथा—*'छूटि समाधि संभु तब जागे',* (ख) *'संभु अबिनासी'* कहकर शम्भुको अविनाशी और सतीको नाशवान् जनाया। सतीका विनाशकाल जानकर अविनाशी शम्भुने समाधि छोड़ी। अथवा, भारी समाधि लगानेके सम्बन्धसे 'अविनाशी' कहा। अथवा, इससे जनाया कि समाधिमें भी वे राम-नाम जपते रहे क्योंकि शिवजी राम-नामके प्रसादसे ही अविनाशी हैं। यथा—*'नाम प्रसाद संभु अबिनासी।'* इसीसे समाधि छूटते ही राम-नाम जपने लगे। (ग) सतीजीने श्रीरामजीसे प्रार्थना की कि मरनेका उपाय शीघ्र कीजिये सो उपाय तुरंत होने लगा कि समाधि छूटी, इत्यादि।

नोट—१ '*सहस सतासी*' इति। श्रीसुधाकर द्विवेदीजी इसके आठ अर्थ लिखते हैं।—(क) सहस सतासी=सह (साथ) +स (शत)+सतासी=१८७। (ख) सहस (एक हजार)+सत्तासी=१०८७। (ग) ८७०००। (घ) सहस—सता—सी=सौ हजार ऐसे। (ङ) सहससत+असी=एक लाख वर्षके नरकके समान बीते। इत्यादि। वे लिखते हैं कि कल्पभेदसे अनेक अर्थ इस तरह होते हैं। सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि 'एक हजार सत्तासी वर्षकी समाधि लगी थी। जैसे एकादश रुद्र हैं, वैसे ही ग्यारह सौ वर्षकी समाधि लगायी थी पर सतीजी जो रामजीकी शरण गयीं, इससे १३ वर्ष पहले ही समाधि खुल गयी। ११०० वर्ष और एकादशरुद्र ये दोनों बातें मिलती हैं।' बाबा हरिदासजीने १०८७ अर्थ किया है।

इतने अर्थोंमेंसे १०८७ और ८७ हजार ये दो तो शब्दोंको बिना तोड़े-मरोड़े निकलते हैं। रहा यह कि इनमेंसे भी कौन ठीक है यह तो कोई प्रमाण आयुका मिलनेसे ही निश्चित किया जा सकता है। अखण्ड अपार और आगेके 'अविनाशी' पदोंसे तो सत्तासी हजार वर्ष यह अर्थ विशेष सङ्गत जान पड़ता है। और, सतीजीका दुःख देखकर १०८७ की ओर भी चित्त चला जाता है। अस्तु जो हो। जो पाठकोंको रुचे।

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ अविनाशीसे ईश्वरतत्त्व जनाया। अर्थात् शङ्करजी त्रिकालज्ञ हैं, सतीके मरणका समय जानकर समाधि छोड़ी। अथवा रामराज्याभिषेक आदि अनेक अवसरोंपर प्रकट देखे गये (उसके समाधानके लिये अविनाशी विशेषण दिया)। ईश्वरमें यह बात होनी आश्चर्य नहीं।' पं० रा० कु० का मत टि० ३ में है।

☞इस शङ्काके विषयमें कि 'समाधिस्थ थे तो रावणके मरनेपर लङ्कामें और राज्याभिषेकके समय अयोध्यामें कैसे पहुँचे? शिवजीके दण्डकारण्यसे कैलास लौट आनेके एक वर्षके भीतर रावणवध और रामराज्याभिषेक हो जाता है?'—सौभरि महर्षिकी कथा स्मरण रखनेयोग्य है। श्रीमद्भागवत ९। ६ में कथा है कि 'एक बार सौभरि ऋषि श्रीयमुनाजलमें गोता लगाये हुए कठिन तपस्या कर रहे थे। वहाँ जलके भीतर एक मत्स्यराजको मैथुनधर्ममें प्रवृत्त देख गृहस्थाश्रममें बड़ा सुख समझ उनको विवाहकी इच्छा हुई। वे तुरंत ही राजा मान्धाताके पास गये और एक कन्या माँगी। राजाने कहा कि मेरी पचास कन्याओंमेंसे जो भी आपको स्वयंवरमें पसन्द करे आप उसे ले सकते हैं। तब मुनिने विचारा कि राजाने यह विचारकर कि यह बुड्ढा है, इसके बाल पक गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, सिर काँपने लगा है, अतः यह स्त्रियोंको प्रिय नहीं हो सकता, मुझसे यह चाल चली, स्वयंवरके बहाने सूखा जवाब दे दिया।……' ऐसा विचारकर समर्थ सौभरि ऋषिने अपने तपोबलसे सुरसुन्दरियोंको भी लुभानेवाला परम सुन्दर मनोहर रूप बना लिया और अन्तःपुरमें प्रवेश किया। राजाकी सभी कन्याओंने उन्हींको अपना वर वरण कर लिया।' फिर महर्षिने अपने तपोबलसे उनके पृथक्-पृथक् निवासके लिये पचास परम मनोहर महल बनाये जो सर्व भोगविलासकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण थे और पचास ही रूपधारण कर प्रत्येक महलमें एक-एक रूपसे प्रत्येक कन्याके पास नित्य ही रहा करते थे। एक बार राजा अपनी कन्याओंको देखने आये। जिसके पास जाते और समाचार पूछते वह यही उत्तर देती थी कि ऋषि नित्य हमारे ही साथ रहते हैं, हमको बड़ा सुख है, परंतु सोच यह है कि हमारी बहिनें बहुत दुःखी होंगी इत्यादि।

पुनः इसी ग्रन्थमें प्रमाण मिलता है कि हिमाचलराजने सब सर, सरिता, नदी, शैलादिकको विवाहमें निमन्त्रण दिया था और वे सब सुन्दर तन धारण करके विवाहमें सम्मिलित हुए और दूसरे रूपसे जगत्का काम भी बराबर होता रहा।

जब ऋषियों और नदी-नदादिकके अधिष्ठाता देवताओंका यह पराक्रम है कि वे कई रूप धरकर संसारमें काम करते रहते हैं तो भगवान् शिवजी तो बड़े ऐश्वर्यवान् हैं, ईश्वरकोटिमें हैं, उनमें क्या आश्चर्य है कि एक रूपसे समाधिमें रहे और दूसरे रूपसे लोकमें विचरते रहे, एक ही रूप रहे तो जगत्का कल्याण कैसे हो सके? भक्तोंकी रक्षा, तप करनेवालोंको वर देना, संहार-प्रलय सब ही बन्द हो जावें। इधर समाधिमें

रहे उधर रणक्रीड़ा, राज्याभिषेक इत्यादि सब चरित्र भी देखते रहे, यथा—*'सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना॥ हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रन रंगा॥'* (लं० ८०) देखिये, देवतालोग एक ही समयमें अनेक स्थानोंमें पूजा लेते हैं, वह भी एक प्रकारकी नहीं।

वे० भू० जीका मत है कि 'यद्यपि महर्षि सौभरि और प्रचेतागणने एक ही कालमें अनेक शरीर धारण किये तथापि उन शरीरोंसे एक ही कालमें भिन्न-भिन्न क्रियाएँ नहीं कर सकते थे। क्योंकि जीवात्मा अणु होनेसे एक ही प्रधान शरीरमें रहता है, उस प्रधान शरीरसे जो क्रियाएँ होती हैं वही सब क्रियाएँ अन्य सब शरीरोंसे स्वाभाविक होती हैं, विभिन्न क्रियाएँ नहीं। और यहाँ तो शङ्करजी एक तरफ समाधिस्थ हैं, दूसरी तरफ उससे भिन्न क्रिया श्रीरामस्तुति आदि करते लङ्का और अयोध्यामें पाये जाते हैं। अतः ये दृष्टान्त संघटित नहीं हो सकते हैं।' ☞परंतु वे भी इतना मानते हैं कि ब्रह्मसूत्र-(वेदान्तदर्शन-) के देवाधिकरणके अनुसार उपर्युक्त दृष्टान्त देनेवालोंका समर्थन हो सकता है कि शङ्करजी एकरूपसे समाधिस्थ थे और एकरूपसे भगवल्लीलामें सम्मिलित थे। इससे तो ऊपर किये हुए समाधानकी पुष्टि ही हुई न कि खण्डन। जीव अव्यापक अर्थात् अणु होते हुए भी ज्ञान व्यापक होनेके कारण बहुत से शरीरोंका संचालन कर सकता है जैसा कि एक ही शरीरमें केवल किसी एक ही (अर्थात् हृदय) स्थानमें स्थित रहकर भी वह शरीरके समस्त अवयवोंका संचालन करता है। यथा—**'अव्यापित्वेऽपि पुंसोऽभिमतबहुवपुःप्रेरणे योगपद्यं ज्ञानव्याप्त्योपपन्नं बहुषु च वपुषोंऽशेषु निर्वाह एषः॥'** (तत्त्वमुक्ताकलाप २। १९)।

वे० भू० जी समाधान इस प्रकार करते हैं कि *'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन'* के *'पुनि'* शब्दसे यह ध्वनित होता है कि 'सम्पूर्ण रामावतारकालिक लीला देखनेके बाद शङ्करजीने समाधि ली। कैलासपर पहुँचनेके बाद सतीजी कैलासपर रहीं और ये बराबर अकेले विचरते रहे और भगवल्लीलाका आनन्द लेते रहे।'—पाठक स्वयं विचार लें।

नोट—३ कुछ महानुभावोंने यह कहकर कि समाधि हरिइच्छासे इतने ही समयमें छूट गयी नहीं तो वह तो 'अखण्ड अपार' थी, यथा—*'लागि समाधि अखंड अपारा'* फिर यह शङ्का की है कि 'श्रीशिवजी तो प्रभुके ध्यानमें मग्न थे, यह तो कोई बुरा कर्म न था, फिर अपने भक्तके ध्यानमें विघ्न करना तो उचित न था' और समाधान यह किया है कि 'शिवजी समाधिमें स्थित निजानन्द लूट रहे थे। समाधिसे केवल उन्हींको सुख था, दूसरेको नहीं। सतीजी जबतक विधि आदिका आश्रय लेती रहीं तबतक प्रभु चुप रहे। जब उन्होंने आर्त होकर श्रीरामजीकी शरण ली तब आर्तका दुःख छुड़ानेके लिये समाधि छुड़ायी।'

रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥ ३॥
जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा। सन्मुख संकर आसन दीन्हा॥ ४॥

अर्थ—शिवजी श्रीरामनामका स्मरण करने लगे। (तब) सतीजीने जाना कि जगत्के स्वामी (श्रीशिवजी) जाग पड़े हैं॥ ३॥ उन्होंने जाकर शम्भुजीके चरणोंकी वन्दना की। शङ्करजीने (उन्हें बैठनेके लिये) सामने आसन दिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ·······'* इति। इससे पाया गया कि सतीजी शिवजीके समीप नहीं रहती थीं। इसीसे ग्रन्थकारने प्रथम ही लिख दिया था कि *'सती बसहिं कैलास तब।'* यदि शिवजीके समीप रहतीं तो शिवसमीप बसना लिखते। आगे भी कहते हैं कि *'जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा।'* *'जाइ'* से भी इसकी पुष्टि होती है। समीप होतीं तो *'जाइ'* क्यों कहते। पर साथ ही वे इतनी दूर भी न थीं कि कुछ जान न पड़ता। [सती दिन-रात शङ्करजीमें ही मनोयोग दिये रहती थीं। अतएव विश्वनाथके जागनेका पता पहिले उन्हींको लगा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'जानेउ सती जगतपति जागे'* इति। जगत्पतिका भाव कि—(क) ईश्वरके जागनेसे जगत्की रक्षा होती है। यथा—**'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते। त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम्॥'**

'**उत्थितं चेष्टिते सर्वमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ माधव।**' इस भावसे ईश्वरके जागनेपर 'जगत्पति' विशेषण दिया। यथा—'*गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान।*' (बा० २२६) संत 'प्रकृति' (प्राकृत) निद्रासे जागते हैं अथवा समाधिसे जागते हैं, तब श्रीरामनामका स्मरण करते हैं। यथा—'*मन महुँ तरक करै कपि लागा। तेही समय बिभीषनु जागा॥ राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा॥*' (सुं० ६) यथा यहाँ कहा कि '*राम नाम सिव*''''''''।' [जगत्पति अर्थात् संसारमात्रके रक्षक हैं। मैं जगत्‌में हूँ, अतः मेरी भी रक्षा करेंगे। (पं०) (घ) अपना पतिभाव हटाकर समष्टिरूपसे शिव जाना। (मा० प०)]

नोट—१ यहाँ सतीजी अपना सम्बन्ध नहीं देतीं क्योंकि वे जान गयी हैं कि आपने पत्नीभावका त्याग किया है। पतिकी प्रसन्नता जिसमें रहे वही करती हैं। एक बार चूक चुकी हैं। (पं०)

नोट—२ '*जागे*' इति। समाधिदशामें समस्त बाह्य-इन्द्रियाँ भीतर स्वरूपमें लीन रहती हैं, शरीर जडवत् रहता है जैसे कि निद्रामें। इसीसे समाधि छूटनेपर 'जागना' कहा।

टिप्पणी—३ '*जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा।* '''''''''''''''''''''' इति। (क) श्रीशिवजीके चरणकमलोंमें प्रेम करना सतीजीका व्रत है। यथा—'*जो मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू॥*'; अतः शिवजीके जागते ही उन्होंने पद-वन्दन किया। (ख) '*संभुपद*' का भाव कि इन्हीं कल्याणकारी चरणोंसे मेरा कल्याण है। (ग) '*सन्मुख संकर आसन दीन्हा*' इति। सम्मुख आसन माताको दिया जाता है। अपने सामने बैठनेके लिये आसन देकर सतीतनमें स्त्रीभावका त्याग और मातृभावका ग्रहण जनाया। सत्तासी हजार वर्ष बीतनेपर भी उन्होंने सतीजीमें पत्नीभाव नहीं रखा—यह शङ्करजीकी सावधानता है, दृढ़ता है। जब दूसरे तनमें पत्नीभाव ग्रहण करेंगे तब भामिनी मानकर वामभागमें आसन देंगे। यथा—'*जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा॥*' (१०७) ☞ पदवन्दन करते ही तुरत शिवजीने सम्मुख आसन दिया कि कहीं ऐसा न हो कि वामभागमें आकर बैठ जायँ। इससे शिवजीकी अपने व्रतमें सावधानता दर्शित करायी। सतीजीने पदवन्दन करके अपना पातिव्रत्य दिखाया। दोनों ही अपने-अपने व्रतमें दृढ़ हैं।

नोट—३ बैजनाथजीका मत है कि 'जीव-ईश्वरका नित्य सम्बन्ध है ऐसा विचारकर पदवन्दन किया। ईश्वरके सम्मुख ही जीवको अधिकार है, यही भाव सतीमें जानकर शङ्करजीने सम्मुख ही आसन दिया। पुनः, सीतावेषका भाव मानकर आप सम्मुख बैठे हैं।' श्रीजानकीशरणजीका मत है कि सीता-भाव ग्रहण करते तो उनके आगमनपर उठकर प्रणाम करते और आदर करते तथा फिर कदापि उनके साथ विवाह न करते। यहाँ तो केवल स्त्रीभाव छोड़नेके कारण वामभागमें नहीं बैठाया।

नोट—४ '*गईं सभीत महेस तब*' दोहा ५५ से लेकर यहाँतक अधिकतर शिवपुराणके रुद्रसंहिताके अ० २७ आदिसे मिलता है।

चौपाई	समानार्थी श्लोक अ० २७
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोच॥ ५३॥	१ अथ तां दुःखितां दृष्ट्वा
गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।	२ पप्रच्छ कुशलं हरेः। प्रोवाच वचनं प्रीत्या
लीन्हि परीछा कवन बिधि कहहु'''''' *॥ ५५॥*	तत्परीक्षा कृता कथम्॥ ४५॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।	३ श्रुत्वा शिववचो 'नाहं किमपि'
कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहिं नाईं॥	प्रणतानना।
तब संकर देखेउ धरि ध्याना।	४ अथ ध्यात्वा महेशस्तु
सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥	बुबोध चरितं हृदा॥ ४७॥
हृदय बिचारत संभु सुजाना। सती कीन्ह सीता	५ कुर्याच्चेद्दक्षजायां हि स्नेहं पूर्वं यथा महान्।
कर बेषा।'''''''''' *जौं अब करौं सती सन प्रीती॥*	नश्येन्मम पणः शुद्धो लोकलीलानुसारिणः॥ ५०॥
मिटै भगतिपथु होइ अनीती॥	
एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।	६ इत्थं विचार्य बहुधा हृदा तामत्यजत् सतीम्।

सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥		पणं न नाशयामास वेदधर्मप्रपालक:॥ ५१॥
चलत गगन भै गिरा सुहाई।	७	चलन्तं पथि तं व्योमवागुवाच महेश्वरम्।
जय महेस भलि भगति दृढ़ाई। अस पन········		धन्यस्त्वं परमेशान त्वत्समोऽमतथा पण:॥ ५८॥
प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी।	८	ततोऽतीव शुशोचाशु बुद्ध्वा सा त्याग आत्मन:
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥	९	सत्यामाप स कैलासं कथयन् विविधा: कथा:।
बैठे बटतर करि कमलासन॥ संकर सहज······	१०	वटे स्थित्वा निजं रूपं दधौ योगी
सरूपु सँभारा। लागि समाधि······ *।*		समाधिभृत्।
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि	११	महान् कालो व्यतीताय तयोरित्थं महामुने।
संभु अबिनासी॥		ध्यानं तत्याज गिरिशस्तत: स परमोऽतिकृत्॥
जानेउ सती जगतपति जागे॥	१२	तज्ज्ञात्वा जगदम्बा हि सती तत्राजगाम सा।
जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा। सन्मुख संकर आसनु दीन्हा॥	१३	आसनं दत्तवान् शम्भु: स्वसम्मुखमुदारधी:॥

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला॥ ५॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहि कीन्ह प्रजापतिनायक॥ ६॥
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमानु हृदय तब आवा॥ ७॥
नहिं कोउ *अस जनमा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**रसाला**=रसभरी, रसीली। **प्रभुता**=अधिकार, स्वामीपना।

अर्थ—भगवान्‌की रसीली कथा कहने लगे। उसी समय दक्ष प्रजापति हुए॥ ५॥ ब्रह्माजीने विचारकर उन्हें सब (प्रकार) योग्य देखा। (अत:) दक्षको उन्होंने प्रजापतियोंका नायक (अधिपति, सरदार) बना दिया॥ ६॥ जब दक्षने (यह) बड़ा पद पाया तब उनके हृदयमें भारी अभिमान आ गया॥ ७॥ (वक्ता अपनी ओरसे सिद्धान्त कहते हैं) संसारमें ऐसा कोई नहीं पैदा हुआ जिसको प्रभुता पाकर अभिमान नहीं हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'लगे कहन हरिकथा रसाला'* इति। ☞ग्रन्थकार शिवजीकी रहनी दिखाते हैं कि ध्यान करने बैठे तब नामका स्मरण करते पाये गये, ध्यान छूटनेपर भी श्रीरामनामहीका स्मरण कर रहे हैं और जब श्रोता मिला, तब कथा कहने लगे। इस तरह उनका सब समय श्रीरामजीके भजनमें ही जाता है, व्यर्थ एक क्षण भी नहीं व्यतीत होता। जहाँ और जबसे उन्होंने सतीजीके त्यागका संकल्प किया तहाँ और तबसे उन्होंने सती-तनमें प्रेम होनेका अवकाश ही नहीं आने दिया। प्रथम तो विविध इतिहासकी कथाएँ कहकर रास्ता काटे, फिर सत्तासी हजार वर्षकी समाधि लेकर सतीजीकी आयुका समय बिताया। जब समाधि छोड़ी तब रामनामका स्मरण करने लगे और जब सतीजी समीप आयीं तब पुन: हरिकथा कहने लगे। (हरि-कथा कही जिससे सतीजीका दु:ख दूर हो।)

नोट—१ पं० सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'कथा कहने लगे जिसमें ऐसा न हो कि कहीं त्यागनेका कारण पूछने लगें।'—(पर यह भाव श्रीसतीजीके स्वभावसे जैसा प्रसंगभरमें दिखाया गया है, संगत नहीं जान पड़ता)। पुराणोंमें लिखा है कि जबतक कथाका प्रसंग समाप्त न हो तबतक कोई दूसरी बात न कहनी चाहिये। यथा—'**कथायां कीर्त्यमानायां विघ्नं कुर्वन्ति ये नरा:।**········ ' **भवन्ति ग्रामसूकरा:॥** सनत्कुमार सं०।' और पं० सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'समयसे पहले ही जाग उठे, इसलिये ठीक समय आनेके लिये बीचका समय सुखसे बीत जाय, इसलिये रसभरी हरिकथा कहने लगे।

नोट—२ *'दच्छ प्रजेस भये तेहि काला'* इति। **प्रजेस**=प्रजापति=प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाला। 'वेदों और उपनिषदोंसे लेकर पुराणोंतकमें प्रजापतिके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कथाएँ हैं। पुराणोंमें ब्रह्माके पुत्र अनेक

* अस कोउ—पाठान्तर

प्रजापतियोंका उल्लेख है।.........कहीं ये दस कहे गये हैं और कहीं इक्कीस। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद—ये दस हैं। नारद और प्रचेताको छोड़कर इक्कीसमें भी इनकी गिनती है। अन्य तेरह ये हैं—ब्रह्मा, सूर्य, मनु, दक्ष, धर्मराज, यमराज, परमेष्ठी, विवस्वान्, सोम, कर्दम, क्रोध, अर्वाक् और क्रोत।' (श० सा०)

टिप्पणी—२ *'देखा बिधि बिचारि सब लायक.........'* इति। (क) अधिकार तभी सौंपा जाता है जब मनुष्य उसके योग्य होता है। यथा—*'कहइ भुआलु सुनिय मुनि नायक। भए राम सब बिधि सब लायक॥'* (अ० ३) *'.....नाथ रामु करिअहिं जुबराजू।'* (ख) दक्षको पहले प्रजेश कहा और अब वे प्रजापतिनायक किये गये। इससे पाया गया कि ब्रह्माजीने दक्षको दो अधिकार सौंपे। पहले प्रजापति बनाया फिर उसमें उन्हें सब प्रकार योग्य पाकर अब उनको प्रजापतियोंका नायक बना दिया। समाधि छूटनेके पूर्व प्रजापति हुए और छूटनेके बाद प्रजापतिनायक बनाये गये। प्रजापति बहुत हैं, उनके भी पति हुए अर्थात् पहले राजा थे, अब राजाओंके राजा किये गये। ब्रह्माके बाद फिर यही पद है। यह कथा भागवतमें है।

नोट—३ प० पु० सृष्टिखण्डमें लिखा है कि ब्रह्माजीने पहले मनके संकल्पसे ही चराचर प्राणियोंकी सृष्टि की, किंतु इस प्रकार उनकी सारी प्रजा पुत्र-पौत्र आदिके क्रमसे अधिक न बढ़ सकी; तब उन्होंने अपने ही सदृश नौ मानस-पुत्र उत्पन्न किये जो नौ ब्रह्मा माने गये। वे ये हैं—भृगु, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि, पुलस्त्य और वसिष्ठ। अपनेसे उत्पन्न अपने ही स्वरूपभूत स्वायम्भुवको प्रजापालनके लिये प्रथम मनु बनाया। मनुने अपनी कन्या प्रसूतिका विवाह दक्षके साथ कर दिया। प्रसूतिके गर्भसे (भा० ४।१ के अनुसार अति सुन्दरी १६ और प० पु० के अनुसार) चौबीस कन्याएँ उत्पन्न करके उन्होंने बड़ी प्रथम तेरह कन्याएँ धर्मको ब्याह दीं, शेष ग्यारहमेंसे एक अग्निदेवको, एक शिवजीको और एक पितृगणको ब्याह दीं और अन्य आठ उपर्युक्त आठ मानसपुत्रोंको दी गयीं। प्रसूतिजीकी कन्याओंद्वारा विशाल सृष्टि (वंशपरम्परा) सारी त्रिलोकीमें फैल गयी। प्रजाकी वृद्धिका कार्य जैसा दक्षद्वारा हुआ ऐसा किसीसे न हुआ था। उनका तेज सूर्यके समान था। प्रजापतियोंके यज्ञमें जब वे गये तब उनके तेजसे वह विशाल सभामण्डप जगमगा उठा। ब्रह्माजी और महादेवजीके अतिरिक्त तेजःपुञ्ज अग्निपर्यन्त सभी सभासद् उनके तेजसे प्रभावित होकर अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये।.......... इसके बहुत पश्चात् और भी प्रजापतियोंका नायक बना दिया। (भा० ४।१।२)

टिप्पणी—३ *'बड़ अधिकार दच्छ जब पावा।.........'* इति। *'बड़ अधिकार'* का भाव कि पहले प्रजापति हुए, यह अधिकार पाया और अब प्रजापतिनायक किये गये, यह 'बड़ा' अधिकार मिला। *'अति अभिमान'* का भाव कि प्रजापतिका अधिकार मिलनेपर अभिमान हुआ (तभी तो शिवजीकी निन्दा करने लगे) और अब नायक हो गये, यह बड़ा अधिकार मिला, अतः अब 'अति' अभिमान हो गया। अधिकार हो जानेपर अभिमान हो जाता है, यथा—*'जग बौराय राजपद पाए।'*

टिप्पणी—४ (क) *'नहिं कोउ अस जनमा जगमाहीं।.........'* इति। 'ऐसा' अर्थात् अभिमानरहित पुरुष जगत्‌में दुर्लभ है। कुछ एक मदहीके जीतनेसे तात्पर्य नहीं है। ऐसे ही अन्य सब विकारोंका जीतनेवाला संसारमें कोई नहीं है—यह बात इसी ग्रन्थमें जहाँ-तहाँ दिखायी गयी है। यथा—*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥ तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥ ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार। श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि॥ मृगलोचनिके नयनसर को अस लागि न जाहि॥'* (उ० ७०) इत्यादि। (ख) (प्रसङ्गानुकूल अर्थ यही है जो ऊपर दिया गया। दूसरा अर्थ यह भी करते हैं) 'जिसको प्रभुता पानेपर मद न हुआ ऐसे (किसी पुरुष) ने संसारमें जन्म नहीं लिया। अर्थात् मदका जीतनेवाला पुनर्जन्म नहीं लेता, वह भवपार हो जाता है, क्योंकि जगत्‌की

उत्पत्ति अहंकारहीसे है, बिना अहंकार संसारमें जन्म कैसे सम्भव है?' [यह अर्थ पंजाबीजीकी टीकासे लिया जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त पंजाबीजीने एक अर्थ और भी दिया है कि 'केवल प्रभु ही ऐसे हैं जिन्हें प्रभुता पानेपर भी अभिमान नहीं है सो उनका जन्म नहीं होता, वे तो प्रकट हुआ करते हैं।'—यह भी प्रसङ्गसे दूरका अर्थ है। भावार्थ वा ध्वनित अर्थ इसे भले ही मान लें।]

नोट—४ वस्तुतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यथा—*'साधारण कहिये बचन कछु अवलोकि सुभाय। ताको पुनि दृढ़ कीजिये प्रगट बिशेष बनाय॥'* (अ० मं०) अर्थात् पहले कोई बात साधारण कहकर फिर उसीको विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास' है। यहाँ पहले एक बात साधारण कही कि दक्षको अधिकार-प्राप्तिसे अभिमान हुआ। फिर उसीको विशेष सिद्धान्तसे दृढ़ किया कि जगन्मात्रमें कोई ऐसा नहीं है जिसे पदवी पानेपर अभिमान न हुआ हो। प्रमाण यथा—हितोपदेश—'**दुर्मन्त्रिणं कमपगान्ति न नीतिदोषाः संतापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः। कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः कं स्वीकृता न विषयाः परितापयन्ति॥**' तथा '**अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः।**' अर्थात् ऐसा कौन है जिसका मन्त्री दुर्मन्त्री हो और उसको नीतिका दोष न लगे? ऐसा कौन है जिसे अपथ्य भोजनसे रोगने न सताया हो? ऐश्वर्य किसको दर्पयुक्त नहीं बनाता? मृत्यु किसे नहीं मारती? विषयोंको स्वीकार करनेपर किसको कष्ट नहीं होता? जैसे नेत्रोंमें धूल पड़नेसे मार्ग न सूझनेसे कंटकादिपर पैर पड़ जाता है, वैसे ही रजोगुणके दोषोंसे युक्त पुरुष विद्यावान् होनेपर भी कुमार्गमें प्रवृत्त हो जाता है।

नोट—५ प्रथम कहा कि *'अति अभिमान हृदय तब आवा'* और यहाँ कहते हैं कि *'प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।'* इस तरह जनाया कि मद और अभिमान पर्याय हैं।

नोट—६ यहाँ दक्षके मद-अभिमानके कथनका प्रयोजन क्या है? आगे दक्षयज्ञका वर्णन है। उसमें शिवजीको निमन्त्रण नहीं दिया गया और न यज्ञमें भाग ही दिया गया है। उसका कारण सूक्ष्म रीतिसे इतनेसे ही जना दिया है। उसको बड़ा भारी अभिमान हो गया जिससे उसने महादेवजीको ही अपमानित करनेकी ठानी। यह अनुचित कर्म किया। प्रथम कारण 'मद' कहकर आगे उसका 'कार्य' कहते हैं।

नोट—७ दक्षके अभिमानका प्रमाण भा० (४।३।२—४) में है। यथा—'**यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना। प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत्॥ इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च। बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम्॥ तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः। आसन् कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥**' अर्थात् जिस समय ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंका अधिपति बना दिया तभीसे उसका गर्व और भी बढ़ गया। उसने (भगवान् शङ्कर आदि) ब्रह्मनिष्ठोंको यज्ञभाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो वाजपेय यज्ञ किया, फिर बृहस्पतिसव नामका महायज्ञ आरम्भ किया जिसमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ पधारे और सबका यथायोग्य खूब स्वागत-सत्कार किया गया।

दो०—दच्छ लिए मुनि बोलि सब करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर जे पावत मख भाग॥६०॥

अर्थ—दक्षने सब मुनियोंको बुलवा लिया और बड़ा यज्ञ करने लगे। जो देवता यज्ञमें भाग पाते हैं उन सबोंको आदरपूर्वक निमन्त्रित किया॥६०॥

टिप्पणी—१ *'दच्छ लिए मुनि बोलि सब.............'* इति। (क) जैसा क्रमसे हुआ वैसा ही दोहेमें कहते हैं। प्रथम मुनि बुलाये गये। उन्होंने आकर यज्ञ प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् देवता निमन्त्रणमें आये। *'बोलि लिए'* से जनाया कि मुनियोंको निमन्त्रण नहीं गया, उनको दक्षने बहुत निम्नकोटिका समझा, इसीसे बुलवा भेजा। (ख) [*'बड़ जाग'* इति। (भा० ४।३) में लिखा है कि प्रजापतिनायक होनेपर प्रथम वाजपेय यज्ञ किया फिर बृहस्पतिसव नामक महायज्ञ किया जिसमें सतीजीने जाकर अपना शरीर त्याग दिया था। 'महायज्ञ' ही बड़ा यज्ञ है। पद्मपु० सृष्टिखण्डमें लिखा है कि 'इस यज्ञमें एक विशाल वेदी

बनायी गयी थी जहाँ सब लोग एकत्रित थे। चारों ओरसे दस योजन भूमि यज्ञके समारोहसे पूर्ण थी। दक्षने यह यज्ञ गङ्गाद्वारमें किया था। गङ्गाजीके पश्चिमी तटपर सतीजीने जहाँ अपनी देहका त्याग किया था, वह स्थान आज भी 'सौनिक तीर्थ' नामसे प्रसिद्ध है।' यह यज्ञ हरिद्वार कनखलमें हुआ। स्कन्दपु० माहेश्वरखण्ड-केदारखण्डमें स्पष्ट लिखा है कि रुद्रका अपमान करनेके लिये ही दक्षने यह यज्ञ किया था।] (ग) *'करन लगे बड़ जाग'* कहकर *'नेवते'* कहनेका भाव कि जब मुनि यज्ञकी तैयारी करने लगे तब निमन्त्रण देवताओंको गया। यज्ञ बहुत बड़ा था, इसीसे 'सब' मुनि बुलाये गये।

टिप्पणी—२ *'नेवते सादर'* इति। सब देवताओंको आदरपूर्वक निमन्त्रण भेजनेमें भाव यह है कि शिवजीका अनादर (अपमान) करना है, इसलिये सबको न्योता दिया, सबको सपरिवार बुलाया, सबको सवारी, पूजा, भेंट आदि भेजी, जैसा आदर-सत्कार करनेकी रीति है वह सब किया। और शिवजीको निमन्त्रण भी न भेजा। सबका विशेष आदर किया जिसमें सब हमारे पक्षमें रहें, शिवजीका पक्ष कोई न ले। [पुनः सादर न्योतनेका भाव कि जिसमें कहीं ऐसा न हो कि शिवजीके निमन्त्रित न होनेसे वे निमन्त्रण अस्वीकार कर दें, तो यज्ञ ही कैसे होगा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'सकल सुर जे पावत मख भाग'* इति। जो देवता यज्ञमें भाग पाते हैं उन सबोंको न्योता दिया, क्योंकि अपने यज्ञमें शिवजीको भाग देना नहीं चाहते। दक्षके हृदयका भाव जैसा है वैसा ही दोहेके शब्दोंमें झलक रहा है—जो-जो यज्ञमें भाग पाते थे उन सबोंको निमन्त्रित किया जिसमें सबको विदित हो जाय कि शिवजीको यज्ञमें भाग नहीं मिला, जातिमें उनका अपमान हो। यहाँ *'सकल सुर'* कहकर आगे कुछका नाम भी देते हैं—*'किंनर ....'* [शङ्करजी भी यज्ञका भाग पाते थे; पर उनको न्योता नहीं दिया और दक्षके बुद्धिहीन याजकोंने भी आपको यज्ञभागसे वञ्चित रखा। यथा—'**न यत्र भागं तव भागिनो ददुः कुयज्विनो येन मखो निनीयते॥**' (भा० ४।६।५०) (यह ब्रह्माजीने स्वयं शिवजीसे दक्षयज्ञके उद्धारकी प्रार्थना करते हुए कहा है जिसमें यह भी कहा कि आपकी कृपासे यज्ञ सम्पूर्ण होता है।)]

नोट—पं० सू० प्र० मिश्रजी दोहार्थके प्रमाणमें काशीखण्डका यह श्लोक देते हैं—'**प्राप्य स्वभवनं देवानां जुहाव सवासवान्। अहं वियक्षुर्यूयं मे यज्ञसाहाय्यकारिणः॥ भवन्तु यज्ञसंभारानानयन्तु त्वरान्विताः।**'

किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा॥ १॥
बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई॥ २॥
सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना॥ ३॥
सुरसुंदरीं करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनिध्याना॥ ४॥

अर्थ—किन्नर, नाग, सिद्ध और गन्धर्व (आदि) सभी देवता अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित (यज्ञके निमन्त्रणमें) चले॥ १॥ विष्णुभगवान्, ब्रह्माजी और महादेवजीको छोड़कर सभी देवता (अपने-अपने) विमान सजा-सजाकर चले॥ २॥ सतीजीने देखा कि अनेक प्रकारके सुन्दर विमान आकाशमें चले जा रहे हैं॥ ३॥ देववधूटियाँ सुन्दर (मधुर स्वरसे) गान कर रही हैं, जिसे कानोंसे सुनते ही मुनियोंका ध्यान छूट जाता है॥ ४॥

नोट—१ *'किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा'* इति। *'किन्नर'*—कादम्बरीमें इनके दो भेद लिखे हैं। किसीका मुख मनुष्यका-सा और शरीर अश्वका-सा होता है और किसीका शरीर मनुष्यका-सा और मुख अश्वका-सा होता है। कोशमें '**किन्नरा नरविग्रहा अश्वमुखा देवयोनयः।**' ऐसा अर्थ किया है। अर्थात् उनका शरीर मनुष्यका और मुख घोड़ेका होता है। ये भी देवसर्गमेंसे एक प्रकारके हैं। यह देवजाति नाचने-गानेमें बड़ी प्रवीण और उत्तम स्वरवाली होती है। इनमें परस्पर विवाहकी शैली विचित्र ही है। अर्थात् पुरुषका शरीर मनुष्यवत् होगा तो उसकी स्त्रीका शरीर अश्ववत् होगा और स्त्रीका शरीर मनुष्यवत् होगा तो उसके पतिका अश्ववत् होगा।

'नाग'—कद्रूके एक सहस्र पुत्र जो सहस्रमस्तकवाले नाग थे, वे 'नाग' कहलाये। इनमेंसे अनन्त, वासुकि, शेष, कर्कोटक, शङ्ख, कम्बल, महानील, तक्षक, पद्म, महापद्म, महाशङ्ख आदि छब्बीस नाग प्रधान हैं। (पद्मपु० सृष्टिखण्ड)। विष्णुपुराण अंश १ अ० २१ में भी कहा है—**'तेषां प्रधानभूतास्तु शेषवासुकितक्षकाः॥ शङ्खश्वेतो महापद्मः कम्बलाश्वतरौ तथा। एलापुत्रस्तथा नागः कर्कोटकधनञ्जयौ॥'** (१-२) **'नागा वासुकिप्रभृतयो नराकाराः।'** इति। इस प्रमाणके अनुसार नागोंका शरीर नराकार है। अष्टकुली नाग देवताओंकी पूजा होती है। नागपञ्चमी तिथि इन्हींके पूजनकी तिथि है। वे अष्टकुली नाग ये हैं—**'अनन्तो वासुकिः पद्मो महापद्मश्च तक्षकः। कुलीरः कर्कटः शेषश्चाष्टौ नागाः प्रकीर्तिताः॥'** (यह श्लोक मा० प० से लिया है।)। नाभाजीने इनके नाम 'इलापत्र, अनन्त, पद्म, शंकु, अशुकम्बल, वासुकि, कर्कोकट और तक्षक' दिये हैं। (भक्तमाल छप्पय २७) इनकी चर्चा श्रीरामतापिनीयोपनिषद्में भी है। ये सब हरिके द्वारपाल कहे जाते हैं।

'सिद्ध' इति। 'सिद्ध' देवकोटिमेंकी एक जाति है। श्रीब्रह्माजीने दस प्रकारकी सृष्टि रची। उनमेंसे एक देवसर्ग है। देवसर्ग आठ प्रकारका है—(१) देवता, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व-अप्सरा, (५) यक्ष-राक्षस, (६) सिद्ध, चारण, विद्याधर, (७) भूत-प्रेत-पिशाच और (८) किन्नरादि। यथा—**'देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः। गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥ भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः। दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः॥'** (भा० ३।१०।२७-२८) मानसके इस प्रसङ्गसे भी 'सिद्ध' का देवजाति होना सिद्ध है। इस तरह कि ऊपर कहा है कि दक्षने समस्त देवताओंको निमन्त्रित किया, यथा—*'नेवते सादर सकल सुर.........'*; और यहाँ नाग और गन्धर्वके बीचमें 'सिद्ध' को भी कहा। अतएव 'सिद्ध' भी एक देवजाति ही हुई।

'गन्धर्बा' इति। देवसर्गमेंसे यह चौथे प्रकारके देवता हैं। ये पिंगलवर्णके होते हैं। स्वर्गमें रहते हैं। ये अच्छे गवैये होते हैं। विष्णुपुराणमें इनके विषयमें कहा है कि—**'पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात् कल्पादावेव चेद्भवेत्। गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते॥'** (अर्थात्) पूर्वकल्पमें किये हुए पुण्योंके प्रभावसे कल्पकी आदिसृष्टिमें जो गन्धर्व होते हैं वे देवगन्धर्व कहे जाते हैं। वेदोंमें गन्धर्व दो प्रकारके माने गये हैं—एक द्युस्थानके, दूसरे अन्तरिक्ष स्थानके। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी गन्धर्वोंके दो भेद मिलते हैं, देवगन्धर्व और मर्त्य वा मनुष्यगन्धर्व। गन्धर्वका अर्थ है—'गा' वा 'गो' का धारण करनेवाला। और 'गो' वा 'गा' से पृथिवी, वाणी, किरण इत्यादिका ग्रहण होता है। गन्धर्व सोमके रक्षक, रोगोंके चिकित्सक, स्वर्गीय ज्ञानके प्रकाशक, नक्षत्रचक्रके प्रवर्तक इत्यादि माने गये हैं। वरुण इनके स्वामी हैं। अग्निपुराणमें गन्धर्वोंके ग्यारह गण माने गये हैं। गन्धर्वोंमें हाहा, हूहू, चित्ररथ, हंस, विश्वावसु, गोमायु, तुम्बुरु और नन्दि प्रधान माने गये हैं।

अमरकोश स्वर्गवर्ग २ श्लोक ११ में भी देवोंकी जातियोंका वर्णन है। यथा—**'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्व-किन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥'** इसपर श्रीमन्नालाल अभिमन्युकी टिप्पणी इस प्रकार है—**'विद्याधरा जीमूतवाहनादयः। अप्सरसो देवाङ्गनाः। यक्षाः कुबेरादयः। रक्षांसि मायाविनो लङ्कादिवासिनः। गन्धर्वास्तुम्बुरुप्रभृतयो देवगायनाः। किन्नरा अश्वादिमुखा नराकृतयः। पिशाचाः पिशिताशा भूतविशेषाः। गुह्यका मणिभद्रादयः। (निधिं रक्षन्ति ये रक्षाः ते स्युर्गुह्यसंज्ञकाः)। सिद्धा विश्वावसुप्रभृतयः। भूता बालकग्रहादयो रुद्रानुचरा वा॥'**

टिप्पणी—१ (क) *'बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा'* इति। सब देवताओंको आदरसमेत न्योता है, इसीसे सब वधुओं (अपनी स्त्रियों) सहित चले। *'नेवते सादर'* का भाव यहाँ स्पष्ट कर दिया कि स्त्रियोंसहित निमन्त्रण दिया। ये सब गान करती जाती हैं; यथा—*'सुरसुंदरीं करहिं कल गाना।'* यहाँ देवताओं और देवाङ्गनाओंका चलना कहकर आगे इन दोनोंकी पृथक्-पृथक् क्रियाएँ (कर्म) लिखते हैं कि सब सुर विमान सजा-सजाकर चले और उनकी स्त्रियाँ गान करती चलीं, यथा—*'चले सकल सुर जान बनाई'* तथा *'सुरसुंदरीं करहिं कल गाना।'* क्रिया लिखकर फिर दोनोंकी क्रियाओंकी सुन्दरता दिखायी; वह यह

कि देवताओंने जो यान बनाये, वे नाना विधिके हैं और सुन्दर हैं; यथा—*'सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना॥'* और सुर-सुन्दरी जो गान करती हैं वह इतना मधुर है कि मुनियोंके ध्यान छूट जाते हैं। (ख) यहाँ इन्द्र, कुबेर और वरुण आदि प्रसिद्ध देवताओंका नाम नहीं लेते; साधारण देवताओं (किन्नर आदि) के ही नाम दिये हैं। इससे जान पड़ता है कि त्रिदेवके न जानेसे इन्द्र-कुबेर आदि प्रधान देवता भी नहीं गये। आगे जो देवता गये उन सबोंका मारा जाना लिखते हैं। यथा—*'सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा।'*

टिप्पणी—२ (क) *'बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई।..........'* इति। महेशके त्यागसे प्रथम विष्णु और विरञ्चिका त्याग हुआ, इसीसे यहाँ विष्णु और विरञ्चिका प्रथम त्याग लिखा गया। देवता तीनोंको त्यागकर चले, इसीसे सबने दण्ड पाया। दक्ष तो शिवविमुख था। इससे उसने शिवजीको त्यागा; पर देवताओंको उचित न था कि त्रिदेवको छोड़कर वहाँ जायँ। देवता आदर-सत्कारपूर्वक निमन्त्रण पाकर बड़े उत्साहसे लोभवश चले। उन्होंने किञ्चित् विचार न किया कि जब यज्ञमें त्रिदेव नहीं जा रहे हैं तब यज्ञमें कुशल कैसे होगा। *'चले सकल'* से उन्हीं देवताओंका ग्रहण है जो त्रिदेवको न माननेवाले थे। वे ही शृङ्गार कर-करके और विमान सजा-सजाकर अर्थात् बड़े उत्साहसे चले, इसीसे सब मारे गये। शम्भु-विमुखको जो दण्ड मिलता है वह उनको मिला।

नोट—२ बैजनाथजीका मत है कि *'बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा'* के *'सुर सर्बा'* से इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य और चन्द्रादि सभी देवता सूचित कर दिये गये हैं। और वे *'बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई॥'* का अन्वय इस प्रकार करते हैं कि *'महेसु बिहाई बिष्नु बिरंचि* (आदि) *सकल सुर ....'* अर्थात् विष्णुभगवान् तथा श्रीब्रह्माजी अपनी-अपनी शक्तियोंसहित तथा समस्त देवता यज्ञमें गये, केवल महेशको छोड़कर। और पं० सुधाकर द्विवेदीका मत है कि 'ब्रह्मा और विष्णुभगवान्‌को भी निमन्त्रण नहीं दिया गया। अर्थात् जिसने उसे प्रजापतिनायक बनाया उन्हें भी न बुलाया और न उनके पिताको—यह अति अभिमानका लक्षण है।' पं० रामकुमारजीका मत टिप्पणी १, २ में है कि *'सुर सर्बा'* और *'सकल सुर'* से किन्नर-नाग आदिकी कोटिके और उनसे छोटे जातिके देवता अभिप्रेत हैं। यदि इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि होते तो इनको प्रधानमें गिनाकर तब *'सुर सर्बा'* कहकर उससे समस्त और देवता कहते।

दोहा ६० में *'नेवते सादर सकल सुर.........'* कहा, फिर *'बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा'* और *'चले सकल सुर जान बनाई'* कहा गया। दोहा ६० से स्पष्ट है कि (शिवजीको छोड़) यज्ञभाग पानेवाले सभी देवताओंको निमन्त्रण गया। पर भगवान् विष्णु और श्रीब्रह्माजी, यह जानकर कि शङ्करजीको न तो निमन्त्रण ही गया है और न उनको यज्ञमें भाग दिया गया है, यज्ञमें न गये। वे भावी उत्पातको प्रथमसे ही जानते थे, उन्होंने शिवापमानको अपना अपमान माना, इसीसे दक्षयज्ञमें वे भी न गये। यथा—**'उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः। नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः॥'**(भा० ४। ६। ३) पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें जो कथा पुलस्त्यजीने कही है, वह किसी अन्य कल्पकी जान पड़ती है, क्योंकि 'उसमें ब्रह्माजी अपने पुत्रोंसहित आकर यज्ञके सभासद् हुए तथा भगवान् विष्णु भी यज्ञकी रक्षाके लिये वहाँ पधारे'—ऐसा उल्लेख आया है। मानस और भागवतकी कथाओंसे इस कथामें विरोध है।

'सुर सर्बा' 'सकल सुर' इति। पद्मपुराणके अनुसार *'सकल सुर'* ये हैं—'शचीसहित देवराज इन्द्र, धूमोर्णासहित परम धर्मिष्ठ यमराज। गौरीसहित वरुणदेव, अपनी पत्नीसहित कुबेरजी, देवताओंके मुखस्वरूप अग्निदेव, उनचासों गणोंसमेत पवनदेव, संज्ञासहित सूर्यदेव, रोहिणी आदिसहित चन्द्रमा, आठों वसु, दोनों अश्विनीकुमार, देवता, नाग, यक्ष, गरुड़ इत्यादि देवगण यज्ञमें आये थे। उनके वृक्ष, वनस्पति, गन्धर्व, अप्सराएँ, विद्याधर, भूतोंके समुदाय बेताल, राक्षस, पिशाच तथा और भी प्राणधारी जीव वहाँ उपस्थित थे। कश्यप, पुलस्त्य, अत्रि, पुलह, क्रतु, प्राचेतस, अङ्गिरा, शिष्योंसहित वसिष्ठजी तथा भूमण्डलके समस्त पुण्यात्मा राजा लोग और सतीजीकी सब बहिनें, बहनोई तथा भानजे भी थे।'

श्रीमद्भागवतमें इस तरह नाम तो नहीं गिनाये गये हैं परंतु यह लिखा है कि सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितृगण और देवता आदि दक्षसे सत्कृत हो पधारे थे तथा उनकी स्त्रियाँ भी साथ आयी थीं, यथा—'**तस्मिन्ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः। आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥**' (भा० ४। ३। ४) इससे यह कहा जा सकता है कि पद्मपुराणमें जो गिनती '*सकल सुर*' की की गयी है, वह सब आये हों और पीछे उपद्रव देख चले गये हों। जो निन्दामें शामिल थे उन्हें दण्ड मिला। पं० रामकुमारजीने जो लिखा वह भी ठीक ही है। पर यह निश्चय है कि पद्मपुराणकी कथा अन्य कल्पकी है। उसमें यज्ञके होता महर्षि वसिष्ठजी थे, अङ्गिरा अध्वर्यु थे, बृहस्पति उद्गाता और नारदजी ब्रह्मा थे। और श्रीमद्भागवतके दक्षयज्ञमें भृगुजी ही प्रधान थे। पद्मपुराणमें सतीके पूछनेपर कि 'शङ्करजीको क्यों नहीं न्योता' दक्षने सतीजीको गोदमें बिठाकर समझाया कि 'वे निर्लज्ज हैं, नंगधड़ंग रहते हैं, यज्ञमण्डपमें आनेयोग्य नहीं, यज्ञके बाद हम उनको बुलावेंगे और सबसे बढ़-चढ़कर उनकी पूजा करेंगे इत्यादि।……' जब शिवजीके गणोंने सब देवताओंको परास्तकर भगा दिया और यज्ञविध्वंस कर दिया तब दक्ष शङ्करजीकी शरण गया और स्तुति की। शङ्करजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैंने तुम्हें यज्ञका पूरा-पूरा फल दे दिया। तुम अपनी सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धिके लिये यज्ञका उत्तम फल प्राप्त करोगे।'

☞ पद्मपु० की कथा मानससे नहीं मिलती। मानसकी कथा भा० स्कन्ध ४ अध्याय ३ से, ६ से मिलती-जुलती है।

टिप्पणी—३ '*सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले*…………' इति। (क) पहले लिखा कि '*चले सकल सुर जान बनाई*' इसीसे यहाँ '*सुंदर बिधि नाना*' कहा। अर्थात् नाना प्रकारके रंग-बिरंगके हैं और बड़े सुन्दर हैं।—(भा० ४। ३ में कहा है कि ये विमान राजहंसोंके समान श्वेत और सुन्दर हैं।) (ख) यहाँतक '*चले*' क्रिया तीन बार लिखी—'*बधुन्ह समेत चले*' '*चले सकल सुर जान बनाई*' और '*जात चले सुंदर बिधि नाना*'। '*बधुन्ह समेत चले*' यह घरसे चले तबका हाल है। '*जात चले*' यह बीच रास्तेका हाल है और '*चले सकल सुर*' विष्णु आदिको त्यागकर चले, तबका हाल है। (ग) सतीजीने आकाशमें विमान देखे—इसका कारण आगे लिखते हैं कि '*सुरसुंदरी करहिं कल गाना।*' (घ) शिवजी हरिकथा कह रहे हैं, उनका चित्त उसमें लगा हुआ है, इसीसे न तो उन्होंने विमान देखे और न उनका ध्यान ही छूटा। सतीका चित्त व्यग्र था। आन्तरिक भारी दुःख होनेसे उनका चित्त पूर्णरीत्या कथामें नहीं लग रहा है, देवाङ्गनाओंके कलगानने उनका चित्त उधरसे हटा दिया। इसीसे कथा छोड़कर उधर चला गया। (ङ) [रा० प्र० का मत है कि 'व्योम शून्य है, ये कथाको छोड़कर शून्यकी ओर देखती हैं, अतः इनको दुःख होगा।']

टिप्पणी—४ '*सुरसुंदरी करहिं कल गाना*……' इति। (क) '*सुंदरी*' कहकर जनाया कि स्वरूप सुन्दर है और सब शृङ्गार किये हुए हैं।—(सब मृगनयनी हैं, चमकीले कुण्डल और हार पहिने सज-धजके साथ हैं। भा० ४। ३। ६ के ये भाव 'सुन्दरी' शब्दमें भरे हैं।) देवता स्वरूपसे सुन्दर होते ही हैं, यहाँ उनकी 'स्त्रियोंकी भी शोभा कही। किन्नर और गन्धर्व स्वरूपके सुन्दर होते हैं और बड़े गवैया हैं, इसीसे उनकी स्त्रियाँ भी गवैया हैं और सुन्दरी हैं। (ख) इस प्रसङ्गमें गोस्वामीजीने देवताओंको '*सुर*' कहा है। यथा—'*नेवते सादर सकल सुर जे पावत मखभाग*', '*बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा*', '*चले सकल सुर जान बनाई*', '*सुर सुंदरी करहिं कल गाना*' और '*सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा।*' '*सुर*' पद प्रसङ्गमें सर्वत्र देकर जनाया कि ये 'सुरा' ग्रहण किये हुए हैं। इसीसे ऐसे मदमाते हैं कि इन्होंने किंचित् विचार नहीं किया और त्रिदेवको छोड़कर यज्ञमें गये। (ग) '*सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना*' इति। सम्प्रज्ञातसमाधिवालोंका ध्यान छूटता है। असम्प्रज्ञातसमाधिवालोंका ध्यान नहीं छूटता। यथा—'**मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थितिः। असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥**' अर्थात् वृत्तिरहित मनकी ब्रह्माकारस्थितिको असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं। [जिसका दुःखमें मन उद्विग्न न हो और जिसे सुखकी इच्छा न हो, जिसका राग, भय और क्रोध दूर हो गया हो,

ऐसे स्थितप्रज्ञको 'मुनि' कहते हैं। '**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥**' (वि० त्रि०)]

नोट—३ रा० प्र० कारका मत है कि '*कल गान*' वही कहा गया है, जिससे ध्यान छूटे, '*कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं॥*' (बाल० ३२२) किसी-किसी महानुभावका मत है कि यहाँ यह ध्वनि भी है कि इनके द्वारा मुनियोंको विघ्न हुआ, इससे इनका भी भला न होगा। २—उत्तराखण्ड और कैलासपर अनेक मुनियोंके आश्रम हैं, यथा—'*सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद॥*' (बाल० १०५) विमान उधरसे ही होकर गङ्गाद्वारको जा रहे हैं। इससे मुनिध्यानका छूटना कहा।

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिता जग्य सुनि कछु हरषानी॥५॥
जौं महेसु मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहौं मिस एहीं॥६॥
पति परित्याग हृदय दुखु भारी। कहै न निज अपराध बिचारी॥७॥

अर्थ—सतीजीने पूछा तब शिवजीने बखानकर कहा। पिताका यज्ञोत्सव सुनकर वे कुछ प्रसन्न हुईं॥ ५॥ (वे मनमें सोचने लगीं कि) यदि महादेवजी मुझे आज्ञा दें तो इसी बहाने कुछ दिन जाकर वहाँ रहूँ॥ ६॥ पति (द्वारा) परित्याग (कर दिये जाने) का भारी दुःख हृदयमें है (परन्तु) अपना ही अपराध विचारकर कहती नहीं हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ '*पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी।*'............' इति। (क) 'पूछा तब कहा' इस कथनसे पाया गया कि यदि ये न पूछतीं तो इसकी चर्चा वे कदापि न करते; क्योंकि ये सब देवता त्रिदेवका अपमान करके चले हैं। (पंजाबीजी लिखते हैं कि कितने ही समाजोंमें स्त्रियाँ नहीं जातीं और यहाँ सभी जा रही हैं; इसीसे सतीजीको विशेष उत्कण्ठा हुई और उन्होंने पूछा।) (ख) '*पिता जग्य सुनि कछु हरषानी*' इति। '*कछु हरषानी*' का भाव कि हृदयमें पति-परित्यागका भारी दुःख है, पतिका सुख ही स्त्रीके लिये पूर्ण सुख है, पिताका सुख उसके लिये कुछ ही सुख है; यथा—'*मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥ अमित दानि भर्ता बैदेही।*' (अरण्य० ५) अतएव पिताका यज्ञ सुनकर 'कुछ' ही हर्ष होना कहा। [पुनः भाव कि यह समझकर कि पिताके घर जानेसे कुछ तो जी बहल जायगा। यहाँ रहनेपर पतिका परित्याग सहा नहीं जाता। वहाँ पतिके परोक्षमें माता, पिता, सखी-सहेलियोंके बीचमें रहनेसे यह दुःख कुछ तो भूल ही जायगा।' (पं० मा० प०)]

टिप्पणी—२ '*जौं महेसु मोहि आयसु देहीं।*' इति। (क) यह सतीजीके हृदयका विचार है कि यदि आज्ञा हो तो कुछ दिन उत्सवके बहाने वहाँ रहकर कुछ दिन बिताऊँ। भारी दुःखके दिन एक जगह रहकर काटे नहीं कटते। यथा—'*सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं। मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं॥*' (५८) इसीसे जानेकी इच्छा हुई। (ख) '*जौं*' संदिग्ध वचन है। '*जौं*' कथनका भाव यह है कि आज्ञामें सन्देह है। वे आज्ञा न देंगे, क्योंकि उनसे और दक्षसे आपसमें बिगाड़ है। पिताने उन्हें निमन्त्रण नहीं भेजा है। (ग) '*आयसु देहीं*' का भाव कि शिवजी स्वयं तो जायँगे नहीं क्योंकि निमन्त्रित नहीं हैं। (हमको इस विचारसे आज्ञा दे सकते हैं कि पिताके घर सन्तान बिना बुलाये जाय तो आपत्ति नहीं। ☞ शङ्करजी कथा कह रहे हैं और इनका मन अन्यत्र है, कथाका सादर श्रवण नहीं हुआ।)

टिप्पणी—३ '*कछु दिन जाइ रहौं मिस एहीं*' इति। (क) '*कछु दिन*' का भाव कि यज्ञसमाप्तितक (अथवा, जबतक और भी बहिनें रहेंगी तबतक), क्योंकि कन्या पिताके घर सब दिन नहीं रहती। (ख) '*जाइ*' का भाव कि वहाँसे कोई न लेने आया है, न आयेगा। अपनी ओरसे जाना चाहती हैं। (ग) '*मिस एहीं*' से जनाया कि पिताके घर जानेकी आज्ञा अबतक कभी न माँगी थी, क्योंकि कोई उत्सव आदिका मौका और बहाना न था, अब उत्सव एक बहाना है जिससे पिताके घर जा सकें। स्त्रीके

रहनेके दो ही स्थान हैं—या तो पिताका घर या पतिका घर। और कोई नहीं है। और, पतिने परित्याग कर दिया है, अतः कुछ दिन पिताके यहाँ बिताना चाहती हैं। (भाव यह है कि दुःख काटनेके बहाने तो जा ही नहीं सकती थीं, दूसरेको इसका मर्म नहीं मालूम है, उत्सवके बहाने जाना हो सकता है और वहाँ जानेसे कुछ जी बहल जायगा।)

टिप्पणी—४ *'पति परित्याग हृदय दुखु भारी।'''''''''''''* इति। (क) *'दुखु भारी'* है। अर्थात् हृदयको जलाता रहता है। ['अकथनीय दारुण' न कहकर केवल 'भारी' कहा; क्योंकि समाधि खुल गयी और वे इस समय शङ्करभगवान्‌के साथ हैं। (वि० त्रि०)] (ख) *'कहै न निज अपराध बिचारी'* का भाव कि अपराध तो स्वयं किया है तब कहें किस मुखसे। यथा—*'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई॥'* (बाल० ५८) पुनः भाव कि हृदयका दुःख कह देनेसे कुछ घट जाता है, यथा—*'कहेहू तें कछु दुख घटि होई।'* (सुन्दर०) पर अपना अपराध विचारकर किसीसे कहती नहीं। यदि कह भी दें तो पतिपरित्यक्ता होनेसे सभी निरादर करेंगे, फिर कोई न पूछेगा। अतः कहती नहीं। (ग) यहाँ *'बिचारी'* के दोनों अर्थ लगते हैं—'विचारकर' और 'वह बिचारी अर्थात् गरीबिनी, बेचारी।' इसे अपूर्ण क्रिया और विशेषण दोनों मान सकते हैं।

नोट—पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि मालिकके प्रसन्न रहनेसे उससे कुछ कहा जा सकता है, पर महा अपराधसे पति रूठ गया है तब कैसे कहें?'

बोलीं सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेम रस सानी॥ ८॥

दो०—पिता भवन उत्सव परम जौ प्रभु आयसु होइ।

तौ मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ॥ ६१॥

अर्थ—सतीजी भय, संकोच और प्रेमरसमें सनी हुई मन लुभानेवाली सुन्दर वाणी बोलीं॥ ८॥ हे प्रभो! पिताके घर बहुत बड़ा उत्सव है। यदि आपकी आज्ञा हो तो हे कृपानिधान! मैं आदरसहित उसे देखने जाऊँ॥ ६१॥

टिप्पणी—१ *'बोलीं मनोहर बानी।'''''''''''''* इति। *'बोलीं'* अतः कथा रुक गयी। अपराधके कारण कुछ बोलती न थीं; पर रहा न गया, पिताके यहाँ जानेको बहुत उत्सुक थीं, अतः बोलीं। मनोहर और प्रेमरससानी वाणी बोलीं जिसमें वे प्रसन्न हो जायँ और आज्ञा दे दें। भय, संकोच और प्रेम तीनों आगे दोहेमें कहते हैं। [*'रस सानी'* अर्थात् यह वाणी भय-रस, संकोच-रस और प्रेम-रस तीनोंमें इस तरह सनी है, युक्त है, भरी हुई है कि जैसे कोई चीज किसी रसमें सानकर एक कर लीजिये तो उसके रेशे-रेशेमें वह रस बिध वा समा जाता है, वैसे ही इस वाणीमें तीनों रस भरे हुए हैं। यहाँ सहोक्ति अलङ्कार है।]

टिप्पणी—२ (क) *'पिता भवन उत्सव परम'''''''''''''* इति। पिताके भवनमें उत्सव देखनेका प्रेम है; यथा—*'पिता जग्य सुनि कछु हरषानी'*। उत्सव परम=महोत्सव। वह अपनी चाह प्रकट करती हैं। निज अपराधका संकोच है; यथा—*'कहै न निज अपराध बिचारी'*। और, शिवजी आज्ञा दें, न दें—यह भय है। यथा—*'जौ महेस मोहि आयसु देहीं'*। ये तीनों बातें प्रथम कहकर अब तीनोंको दोहेमें एकत्र करते हैं। (ख) *'पिता भवन'* कहनेका भाव कि पिताके घर बिना बुलाये जाना चाहिये। यही बात आगे शिवजीने कही है; यथा—*'जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइअ बिनु बोले न सँदेहा॥'* *'उत्सव परम'* कहनेका भाव कि बड़ा भारी महायज्ञ हो रहा है, साधारण यज्ञ होता तो न भी जातीं। भारी महायज्ञ है अतः अवश्य देखना चाहिये। इसीसे *'सादर'* देखनेको कहा। [भा० ४। ३ में सतीजीने जो यह कहा है कि 'मैं अपनी जन्मभूमि देखनेके लिये बहुत उत्सुक हो रही हूँ। देखिये, इन विमानोंपर कितनी ही स्त्रियाँ तो ऐसी हैं जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है, फिर भी वे अपने-अपने पतियोंके साथ

सज-धजकर झुण्ड-की-झुण्ड वहाँ जा रही हैं। ऐसी अवस्थामें अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पाकर उसकी बेटी उसमें सम्मिलित होनेके लिये क्यों न छटपटायगी? हाँ, आप यह अवश्य कह सकते हैं कि हमलोगोंको बुलावा नहीं आया है। किन्तु पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ तो बिना बुलाये ही जा सकते हैं।'—वे सब भाव और तर्क *'पिताभवन' 'उत्सव परम'* में सूचित किये गये हैं तभी तो इन सब बातोंका उत्तर शिवजीके वचनोंमें है।]

टिप्पणी—३ (क) *'जौं प्रभु आयसु होइ'* इति। 'आज्ञा देंगे'—इसका सतीके मनमें सन्देह हुआ था, अब उसी मनके सन्देहको वचनोंसे प्रकट करती हैं अतः *'जौं'* कहा। [*'जौं प्रभु आयसु होइ'* में दूसरा भाव यह भी है कि पिताके घर दो ही कारणसे जाना होता है—एक या तो पिता बुलावे, दूसरे यदि पतिकी आज्ञा हो तो कन्या स्वयं जा सकती है। सो पिताने तो बुलाया नहीं और मेरी इच्छा जानेकी होती है। अतः आयसु माँगती हैं।] (ख) *'तौ मैं जाउँ कृपायतन'* इति। अर्थात् यदि मुझपर आप कृपा करें। आज्ञा देवें तो। श्रीमद्भागवतमें जो कहा है कि 'आप मुझपर इतनी कृपा अवश्य करें। आप बड़े करुणामय हैं! आपको मेरी यह इच्छा पूर्ण करनी ही उचित है। आपकी कृपालुताका मैं कहाँतक वर्णन करूँ? अहो, परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अङ्गमें स्थान दिया है। अब मेरी इस याचनाको स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत कीजिये।' (४।३।१३-१४) वे सब भाव इसमें भरे हैं। (ग) *'सादर देखन सोइ'* इति। श्रेष्ठ यज्ञको आदरपूर्वक देखना विधि है। अतः 'सादर देखना' कहा। [*'सादर'* को दीपदेहली मानकर दूसरा भाव यह भी कह सकते हैं कि 'जैसी आपकी प्रतिष्ठा है उस आदरके साथ जाऊँ। अर्थात् सवारी नौकर-चाकर, सेवक और रक्षक आदिके जानेकी आज्ञा दें तो जाऊँ। ऐसा नहीं कि आप नाराज तो हैं ही, कह दें कि अकेली चली जा।' (मा० प०)]

नोट—वाणी तो सभी मनोहर है, विनीत है और प्रेमभरे शब्दोंमें है। *'पिता भवन उत्सव परम'* में प्रेम प्रधान है, भय और संकोच गौण हैं पर हैं तीनों ही। महोत्सवमें जानेकी इच्छा और वह भी पिताके घर—प्रेम सूचित करता है। कहीं शिवजी यह न कहें कि वही पिता तो है जिसने तुम्हारी बहिनों-बहनोइयोंको तो बुलाया और तुमको पूछातक नहीं, उसीके यहाँ जाना चाहती हो।—यह संकोच और भय है। *'प्रभु', 'कृपायतन', 'आयसु होइ'* और *'सादर'* इन सब शब्दोंमें प्रेम झलक रहा है। *'आयसु'* में भी भयका ग्रहण हो सकता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रेम, भय और संकोच तीनों शिवजीके ही सम्बन्धसे हैं।

कहेहु नीक मोरेंहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा॥ १॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाईं। हमरें बयर तुम्हौं बिसराईं॥ २॥
ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना। तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना॥ ३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी बोले) तुमने अच्छी बात कही। वह मेरे मनको भी भाई (अच्छी लगी)। (परन्तु) यह अनुचित है (क्योंकि दक्षने) नेवता नहीं भेजा॥ १॥ दक्षने अपनी सब कन्याओंको बुलाया (किन्तु) हमारे वैरसे तुम भी भुला दी गयी॥ २॥ दक्षने ब्रह्माजीकी सभामें हमसे दुःख मान लिया, इसीसे अब भी हमारा अपमान करते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'कहेहु नीक मोरेंहु मन भावा।…………'* इति। (क) सतीजीकी वाणी वास्तवमें मनोहर है, मनको भानेवाली है; इसीसे शिवजीने कहा कि *'मोरेंहु मन भावा।'* मनको भानेका कारण यह है कि बात अच्छी है, यज्ञ भगवान‍्का अङ्ग है, उसका दर्शन करना पुण्य है, धर्म है, उसे अवश्य देखना उचित है। सतीजीने *'जाउँ सादर देखन सोइ'* अर्थात् यज्ञ देखनेकी बात कही; इसीसे शिवजीने उसे *'नीक'* कहा। (ख) *'मोरेंहु मन भावा'* का भाव कि हम भी तुम्हें भेज देते इसमें सन्देह नहीं। (ग) *'यह अनुचित नहिं नेवत पठावा'* अर्थात् बिना नेवताके वहाँ जाना अनुचित है। तात्पर्य कि तुम्हारी वाणीमें

एक यही अनौचित्य है जो भेजने नहीं देता। यज्ञमें भाग पानेवाले देवताके नाते मुझको भी न्योता भेजना चाहिये था।

नोट—१ नीक है, मनको भाया भी तब उचित या अनुचित कहनेकी आवश्यकता क्या रह गयी? इसपर पंजाबीजी लिखते हैं कि 'शिवजी ईश्वर हैं इसलिये क्रोध होनेपर भी वे कुछ भी अनुचित नहीं करना चाहते। उन्होंने सतीजीके हितकी बात कही। यही कारण है कि उनकी बातको भली कहकर अर्थात् उसका समर्थन करके फिर अनुचित (अंश) कहा।' ☞जिसकी बातका खण्डन करना हो, सामान्यत: प्रथम उसका समर्थन करके तब युक्तिपूर्वक उसका खण्डन करना चाहिये। यदि सीधे-सीधे खण्डन कर दिया जाय तो जिसकी बातका खण्डन किया जाता है उसमें दुराग्रहपनेकी सम्भावना हो सकती है। देखिये गुरु श्रीवसिष्ठजीने भरतजीसे राज्य ग्रहण करनेको कहा और माता कौसल्याजी तथा मन्त्रियोंने उनकी आज्ञाका अनुमोदन किया तब भरतजीने क्या किया? उन्होंने प्रथम सबकी बातोंको उचित कहा; यथा—*'मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका।............मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥'* फिर कहा कि *'तुम्ह तो देहु सरल सिख सोई। जेहि आचरत मोर भल होई॥ जद्यपि यह समुझत हौं नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥ अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू॥'* (२।१७७) इसके पश्चात् उन्होंने सबकी बातोंका अनौचित्य दिखाया और यहाँतक कह डाला कि *'परम हानि सब कहँ बड़ लाहू। अदिनु मोर नहिं दूषन काहू॥ संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सब जो कछु कहहू॥'* (२।१८१) इत्यादि। इसी प्रकार जब लक्ष्मणजी सेनासहित भरतजीको मारनेके लिये तैयार हुए और आकाशवाणी सुनकर संकुचित हुए तब श्रीरामजीने प्रथम उनके वचनोंका समर्थन किया; यथा—*'कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमदु भाई॥'* फिर उनमें अनौचित्य दिखाया, इस तरह कि *'जो अँचवत नृप मातहिं तेई। नाहिन साधुसभा जेहिं सेई॥ सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥'* इत्यादि। (२। २३१) इसी तरह अंग्रेजी नाटक जूलियस सीजर Julius Coesor में ऐनटनी Antony ने ब्रूटसकी बातोंका कैसा उत्तम रीतिसे खण्डन किया है।—इसी तरह शिवजीने पहले समर्थनकर अब उसका खण्डन प्रारम्भ किया।

टिप्पणी—२ *'दच्छ सकल निज सुता बोलाईं।........'* इति। (क) अर्थात् यदि दक्ष अपनी अन्य सब लड़कियोंको न बुलाता तो तुम्हें भी न्योता न देनेसे 'बिसराना' अर्थात् भुलाना न कहा जा सकता था; क्योंकि जब किसीको न बुलाया तो तुमको भी न बुलाया तो इसमें उचित-अनुचितका प्रश्न ही नहीं उठता। (ख) *'सकल निज सुता........'* इति। दक्षकी कितनी-कितनी कन्याएँ हैं, इसमें पुराणोंमें मतभेद है। कोई १६, कोई २४, कोई ६० इत्यादि कहते हैं। इसीसे गोस्वामीजीने *'सकल'* शब्द दिया। भा० ४। १ में इनकी कन्याओं और उनके पतियोंके नाम इस प्रकार हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये तेरह धर्मकी पत्नियाँ हुईं। स्वाहा अग्निदेवको, स्वधा पितरों (अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमप और आज्यप) को और सतीजी शङ्करजीको ब्याही गयीं। पद्मपु० में २४ कन्याओंके नाम हैं जिनमेंसे 'ख्याति' का विवाह भृगुजीसे और अनुसूयाजीका अत्रिजीसे लिखा है—विशेष ४८ (६) 'दक्ष, दक्षकुमारी' में देखिये। [(ग) *'हमरें बयर तुम्हउ बिसराईं'* इति। हमारे कारण तुमको भी बिसरा दिया अर्थात् हमसे वैर मानते हैं और हमारे नाते तुमसे भी वैर मानते हैं—यह आगे स्पष्ट ही है। यथा *'दक्ष न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥'* (६३) *'बिसराईं'* कहनेका भाव कि तुम 'बिसरि गयीं' ऐसा नहीं है, यदि बिसर जातीं, भूलसे रह जातीं तो उन्हें दोष न लगता पर उन्होंने तो जान-बूझकर हमें बिसराया और हमसे वैर है यह समझकर हमारे कारण तुम्हें भी बिसरा दिया, नहीं तो तुम्हींको बुला लेते।

नोट—२ केवल तुमको न बुलाया और अपनी सभी लड़कियोंको बुलाया, इस कथनसे दक्षका अपनेसे विरोध जनाकर आगे विरोधका कारण कहते हैं। पुन:, *'हमरें बयर तुम्हउ बिसराईं'* का भाव कि दक्षको

उचित तो यह था कि तुम उनकी बड़ी प्यारी लड़की थीं, तुम्हारे सम्बन्ध और प्रेमके नाते हमसे वैर बिसरा देते—यह उनकी दक्षता (चतुराई) होती, उनका नाम इस कर्तव्यसे सार्थक हो जाता, 'यथा नाम तथा गुण' यह लोकोक्ति सिद्ध होती। अथवा, केवल तुमको बुला लेते तो भी हर्ज न था; पर उन्होंने यह न करके उलटे तुमको भी भुला दिया।

नोट—३ श्रीपंजाबीजी और पं० सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'यहाँ दक्षका जैसा नाम वैसा ही गुण दिखाया गया है। दक्ष नाम यहाँ साभिप्राय है। दक्ष=चतुर=सयाना=चालाक। उसने खूब चतुरता दिखलायी। तुम्हें न बुलाया यही चतुरता है। जिसमें तुम्हारा और हमारा प्रकट अपमान हो।' पुनः, ***'हमरें बयर'*** का भाव कि हम उनसे वैर नहीं मानते (इसीसे हमने कभी तुमसे इसकी चर्चा भी न की थी, यदि तुम वहाँ जानेकी बात न कहती तो मैं उसका नाम भी न लेता।) पर वह वैर मानता है।' भा० ४।७।२ से भी यही बात सिद्ध होती है। शङ्करजीने ब्रह्मादिसे कहा है कि दक्ष ऐसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। यथा—'**नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥**'

टिप्पणी—३ ***'ब्रह्मसभाँ हम सन दुख माना।'''''''''''''''*** ' इति। (क) वैर कहकर अब उसका कारण कहते हैं। ***'ब्रह्मसभाँ'*** कहकर जनाया कि ब्रह्मादि देवता इस बातको जानते हैं। ***'हम सन दुख माना'*** का भाव कि और किसीसे दुःख नहीं माना। पुनः (ख) ***'माना'*** का भाव कि उन्होंने दुःख अपनेसे मान लिया, हमने दुःख देनेकी कोई बात नहीं की। हमने जान-बूझकर दक्षकी अवज्ञा नहीं की थी; उसने मूर्खतासे ऐसा मान लिया था।—यह भाव भा० ४।२।३ से स्पष्ट है। दुःख मानना=अप्रसन्न होना।

नोट—४ '**दुःख माननेकी कथा**' इति। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४ अ० २ में यह कथा श्लोक ४ से ३३ तक है। वहाँ श्रीविदुरजीके प्रश्नपर श्रीमैत्रेयजीने वैरका कारण इस तरह वर्णन किया है—

एक बार पूर्व अति प्राचीनकालमें विश्वस्रष्टाओंने एक यज्ञ किया, जिसमें समस्त परमर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियोंके सहित आ उपस्थित हुए। सूर्यके समान तेजस्वी दक्ष उस समय वहाँ आये। दक्षको देख उनके तेजसे प्रभावित और धर्षितचित्त होकर श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजीको छोड़ अन्य सभी देवता, ऋषिगण आदि सदस्यगणोंने अपने आसनोंसे उठकर उनका सम्मान किया। दक्ष ब्रह्माजीको प्रणामकर उनकी आज्ञा पा उनके दिये हुए आसनपर बैठ गये। दक्षने यह देखकर कि शिवजी आसनपर बैठे ही रहे, उठकर उन्होंने सम्मान नहीं किया और उनके इस व्यवहारसे अपना अपमान समझकर क्रूरदृष्टिसे उनकी ओर देखा और उस महासभामें ही उनको बहुत दुर्वचन कहे। (श्लोक ९ से १६ तक-में दुर्वचन हैं। जिसे देखना हो वहाँ स्वयं देख लें।) और पछताने लगा कि मैंने केवल ब्रह्माजीके कहनेसे ही ऐसे पुरुषको अपनी सुन्दर साध्वी भोली-भाली कन्या दे दी। '**तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे। दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना॥**' (१७) शिवजी कुछ भी न बोले। दुर्वचन कहकर दक्षने श्रीशिवजीको शाप भी दिया कि 'देवयज्ञोंमें इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवगणोंके साथ यह यज्ञका भाग न पावें। यथा—'**अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः। सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः॥**' (१९) शाप देकर अत्यन्त क्रुद्ध हो वह सभासे निकलकर अपने घर चलता हुआ।

यह जानकर कि दक्षने शाप दिया है, नन्दीश्वरको बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष और उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके कुवाक्योंका अनुमोदन किया था, घोर प्रतिशाप दिया कि 'यह दक्ष देहाभिमानी है, देहहीको आत्मा समझता है, अविद्याको विद्या जानता है, विषयसुखवासनाओंमें आसक्त हो कर्मकाण्डमें रत रहता है। अतएव यह जड़ पशु है, पशुओंके समान यह स्त्री-लम्पट हो और इसका मुख शीघ्र ही बकरेका हो। यह सदा तत्त्वज्ञानसे विमुख रहे। यह और इसके अनुयायी बारम्बार आवागमनरूप संसारचक्रमें पड़े रहें, कर्ममार्गमें ही भ्रमते रहें। ये ब्राह्मणगण भक्ष्याभक्ष्यके विचारसे रहित हो केवल पेट पालनेके लिये विद्या, तप और व्रतादिका आश्रय लें और धन, शरीर और इन्द्रियोंमें ही सुख मान भिक्षुक होकर

पृथ्वीपर विचरा करें।—'**सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः। वित्ते देहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह॥**' (२७) इसपर भृगुजीसे न रहा गया। उन्होंने बदलेमें अत्यन्त दुस्तर ब्रह्मशाप दिया कि शिवभक्त और उनके अनुयायी सत्-शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों, शौचहीन, बुद्धिहीन हों, जटा, भस्म और अस्थियोंके धारण करनेवाले हों……।' भृगुके शाप देनेपर श्रीशिवजी अपने पार्षदोंसहित वहाँसे चल दिये। दक्ष द्वेषभाव मनमें तबसे बराबर रखे रहा।

टिप्पणी—४ *'तेहि ते अजहुँ करहिं अपमाना।'* इति। (क) *'अजहुँ'* का भाव कि 'प्रथम भरी ब्रह्मसभामें हमारा अपमान किया था और उस बातको बरसों बीत गये तथापि अब भी अपमान करनेपर तुले हुए हैं, अब भी करते हैं। यह यज्ञ भी हमारे अपमानके लिये ही प्रारम्भ किया गया है। यज्ञमें हमारा भाग देनेसे सबको रोकना चाहते हैं। हमारा भाग न देनेका आरम्भ अपने इस यज्ञसे कर रहे हैं।' [पुनः भाव कि बड़े लोग छोटी बातोंपर कुछ ध्यान नहीं देते। ध्यान भी हो जाता है तो थोड़ी ही देर उसका आवेश रहता है। पर यह अबतक अपमान करता जाता है। इसका कारण पूर्व कह आये कि 'अति अभिमान' हो गया है; उसी मदके नशेमें अबतक मतवाला बना हुआ अपमान करता है। (मा० प०)]

नोट—५ पं० सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि—'**हम सन**'=हम लोगोंसे। अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु महेशसे। इसीसे तीनोंको न्योता न गया।

जौं बिनु बोलें जाहु भवानी। रहै न सीलु सनेहु न कानी॥ ४॥
जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा। जाइअ बिनु बोलेहु न सँदेहा॥ ५॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्यान न होई॥ ६॥

अर्थ—हे भवानी! यदि तुम बिना बुलाये जाओगी तो न शील-स्नेह ही रह जायगा और न मान-मर्यादा ही॥ ४॥ यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरुके घर बिना बुलाये भी जाना चाहिये॥ ५॥ तो भी जहाँ कोई विरोध (वैर) मानता हो वहाँ जानेसे कल्याण नहीं होता॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'जौं बिनु बोलें जाहु भवानी।'……'* इति। जो शङ्करजीने कहा वही हुआ भी। किसीने न तो स्नेह किया, न शील रखा और न कानि मानी। यथा—*'पिता भवन जब गईं भवानी। दच्छ त्रास काहु न सनमानी॥'……'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥'* (६६) 'कानि न मानी' अर्थात् किसीने इसकी परवा न की कि ये भगवान् शङ्कर महामहिमकी पत्नी हैं; भवानी हैं; इनका आदर करना कर्तव्य है। (ख) *'भवानी'* सम्बोधन अर्थात् पति-सम्बन्धी नाम देनेमें भाव यह है कि भवपत्नीका जैसा शील, स्नेह और मर्यादा-प्रतिष्ठा है वैसी न रहेगी। हमको न बुलाकर हमारा अपमान किया और कर रहे हैं तो वहाँ जानेपर तुम्हारा अपमान होगा।

नोट—१ (क) पंजाबीजी लिखते हैं कि *'भवानी'* कहकर शिवजी सूचित करते हैं कि हमने केवल सतीतनका त्याग किया है, परम प्रेम जो हमारा तुममें है, कुछ उसका त्याग हमने नहीं किया। हमारी इस प्रतिज्ञाका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम्हारा अपमान हो तो हमें बुरा न लगेगा।' और, पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'दुःखी होकर शिवजीने *'भवानी'* सम्बोधन किया। अर्थात् बिना न्योते जानेसे तुम 'भव' (मुझ शिवको या संसारमात्र) को 'आनि' (ग्लानि) देनेवाली होगी। तथा पं० सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि 'भवानी' से यह सूचित किया कि तुम हमारी स्त्री होकर ऐसा अपमान न सह सकोगी।'

☞ भागवतके '**तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये।**……' (४। ३। २४) और '**अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः॥**' (४। ३। २०) के अनुसार *'भवानी'* सम्बोधनका भाव यह है कि यद्यपि तुम दक्षकी परम प्रिय पुत्री हो पर मेरी आश्रिता हो, भवपत्नी हो, इसलिये तुम्हारा अपमान होगा और यद्यपि तुम्हारा शरीर दक्षसे उत्पन्न हुआ है तो भी 'भवपत्नी' के नातेसे तुम्हें मेरा शत्रु होनेके कारण उसको तथा उसके अनुयायियोंके देखनेका विचार कदापि न करना चाहिये। (ख)